मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 144 ● वर्ष 15, अंक 8 ● नवम्बर 2025 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

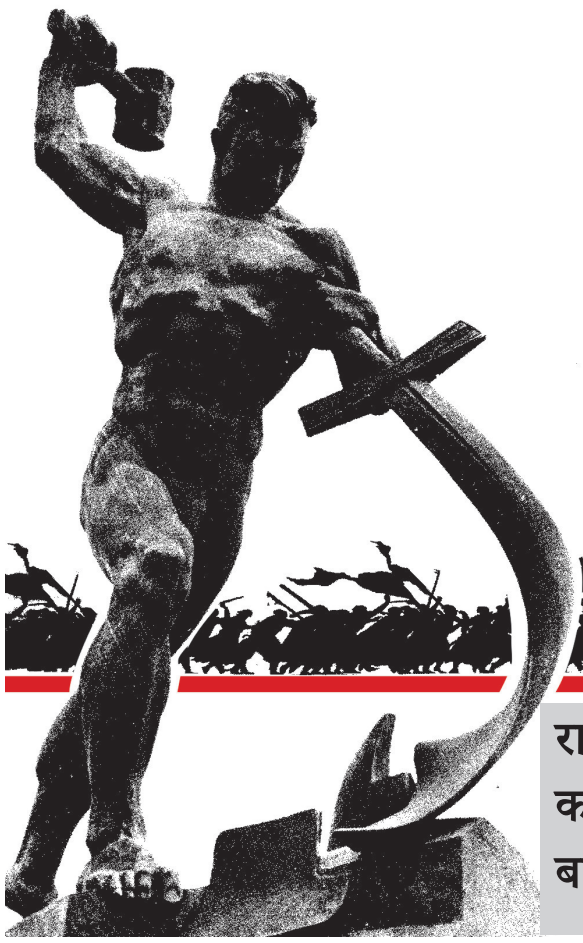

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का वहशी चेहरा एक बार फिर बेनक़ाब 4

सोवियत संघ में समाजवाद की युगान्तरकारी उपलब्धियाँ 7

उत्तर प्रदेश औद्योगिक संशोधन क़ानून : मुँह में राम बगल में छुरी 11

बिहार विधानसभा चुनावों में भाजपा गठबन्धन की अभूतपूर्व विजय और हमारे कार्यभार

वोट-चोरी और चुनावी धाँधली के ज़रिये जनता के बुनियादी राजनीतिक जनवादी अधिकारों को निरस्त करने के विरुद्ध जुझारू व्यापक जनान्दोलन खड़ा करो!

सम्पादकीय अग्रलेख

बिहार विधानसभा चुनावों के नतीजों में कुछ भी चौंकाने वाला नहीं था। सोशल मीडिया पर "खेला" होने का "खेला" खेलने वाले जो "खिलाड़ी" भाजपा-नीत गठबन्धन की हार की उम्मीद लगाये बैठे थे, उनके हाथों निराशा लगी है। हालाँकि अभी भी वे किसी "खेला" होने के इन्तज़ार में हैं, जैसा कि वे पिछले 11 वर्षों से लगातार कर रहे हैं! अफ़सोस कि उनके इस अदम्य आशावाद के पाँवों तले कोई ठोस ज़मीन नहीं है। सच्चाई तो यह है कि भारत के पूँजीवादी लोकतन्त्र की सभी संस्थाओं और प्रक्रियाओं के साथ साम्प्रदायिक फ़ासीवादी संघ परिवार पहले ही भयानक "खेला" कर चुका है! **भाजपा और उसके सहयोगियों ने बिहार चुनाव कैसे जीता है, वह सभी विवेकवान लोगों के सामने बिल्कुल स्पष्ट है।**

पहले तो विशेष गहन पुनरीक्षण (एसआईआर) के आधार पर उन वर्गों, जातियों व समुदायों के लाखों वोटों को ही रद्द कर दिया गया जो भाजपा के विरुद्ध विपक्षी दलों को वोट करने की प्रबल सम्भावना रखते हैं, उसके बाद लाखों फ़र्ज़ी वोटरों को वोटर लिस्ट में जोड़ दिया गया जिनके वोट भाजपा को ही जाने थे, उसके बाद चुनाव आचार संहिता की धज्जियाँ उड़ाते हुए लाखों महिलाओं को रु. 10,000 की रिश्वत बाँटी गयी और भविष्य में भी ऐसी रिश्वत की आशा उन्हें थमा दी गयी। उसके बाद देश में अलग-अलग जगहों से भाजपा ने अपने वोटरों के लिए विशेष ट्रेनें और बसें चलवाकर बिहार विधानसभा चुनावों में अपने पक्ष में वोट डलवाये। इसके अलावा, स्वतन्त्र रपटों से स्पष्ट संकेत मिले कि ईवीएम घोटाला पहले की तरह जारी रहा। इसी प्रकार के अन्य साम-दाम-दण्ड-भेद अपनाकर भाजपा ने समूचा चुनाव ही चुरा लिया। केन्द्रीय चुनाव आयोग (केचुआ) के बारे में कुछ भी बताने की आवश्यकता नहीं है, वह पहले भाजपा की गोद में बैठा था और अब भाजपा की गोद में धँस चुका है। इसलिए उससे किसी सुनवाई की उम्मीद करना निपट मूर्खता होगी। वहीं दूसरी ओर आवारा कुत्तों के मसलों पर स्वयं संज्ञान लेने वाला सर्वोच्च न्यायालय खुलेआम एक अहम राजनीतिक जनवादी अधिकार की चोरी पर धृतराष्ट्र बनकर बैठा रहा है और अभी भी बैठा हुआ है। **ऐसे में, इस भयंकर धाँधली, चोरी और लूट के ख़िलाफ़ आप कहाँ शिक़ायत करेंगे, कहाँ रपट लिखवायेंगे?**

भाजपा-नीत राजग गठबन्धन ने चुनाव कैसे जीता? इसकी तैयारी तो महीनों पहले शुरू की जा चुकी थी। आर्थिक और सामाजिक तौर पर सबसे पिछड़े प्रदेशों में से एक होने के बावजूद केन्द्र की सत्ता हथियाने के मद्देनज़र बिहार हर पूँजीवादी

(पेज 10 पर जारी)

करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों पर क़हर बरपाने वाले चार लेबर कोड लागू हुए!

इन काले क़ानूनों के खिलाफ़ मज़दूर वर्ग को लम्बी व जुझारू लड़ाई की तैयारी करनी होगी!

● भारत

देश के करोड़ों मज़दूरों-मेहनतकशों की बदहाल ज़िन्दगी को और भी तबाह करने वाले चार ख़तरनाक क़ानून यानी चार लेबर कोड को बीते 21 नवम्बर को मोदी सरकार ने लागू कर दिया है। इन चार लेबर कोड के लागू होने के बाद मज़दूरों के बचे-खुचे अधिकारों को भी छीन लिया गया है, जिन्हें दशकों के संघर्ष के बाद हासिल किया गया था, ताकि पूँजीपति वर्ग मनमाने तरीक़े से मज़दूरों की हड्डियाँ तक निचोड़ सके। यही कारण है कि चुनाव में हज़ारों-करोड़ का ख़र्च उठाकर अम्बानी-अडानी आदि जैसे पूँजीपतियों ने मोदी को तीसरी बार सत्ता में पहुँचाया है ताकि मुनाफ़े के रास्ते में आने वाले हर 'स्पीडब्रेकर' को पूरी तरह से हटाया जा सके। कहने की ज़रूरत नहीं है कि मोदी सरकार इस काम को बख़ूबी अंजाम दे रही है।

ज्ञात हो कि मोदी सरकार ने 2019 और सितम्बर 2020 में ही इन क़ानूनों को संसद में पारित करवा लिया था, जब जनता कोरोना महामारी और मोदी सरकार द्वारा अनियोजित रूप से थोपे गये लॉकडाउन की मार झेल रही थी। संसद में पारित होने के बाद से ही मोदी सरकार इसे लागू करने के लिए उतावली थी, जिससे देश में 60 करोड़ मज़दूरों-कर्मचारियों की लूट को बेहिसाब बढ़ाया जा सके, उनके यूनियन बनाने के अधिकार यानी उनकी सामूहिक मोलभाव की क्षमता को कमज़ोर किया जा सके और उनके संघर्ष को कुचला जा सके। मोदी सरकार के इस दमनकारी क़ानून को लागू करने के लिए तमाम राज्य सरकारों की भी सहमति है। गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में चार लेबर कोड को लागू करने के प्रयोग पहले ही किये जा चुके हैं, जहाँ श्रम क़ानूनों को लगभग पूरी तरह से निष्प्रभावी बनाया जा चुका है। साथ ही चार लेबर कोड पर कांग्रेस व अन्य किसी भी चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टी को कोई आपत्ति नहीं है। यह यह भी दर्शाता है कि मज़दूरों के अधिकारों को ख़त्म करने के लिए सभी पार्टियाँ कैसे एकसाथ हो जाती हैं और यह भी कि निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों पर इन सभी दलों में आम सहमति है। फ़र्क बस इतना है कि जो काम भाजपा जैसी फ़ासीवादी पार्टी धड़ल्ले से हर प्रकार के विरोध को कुचलकर नंगई के साथ अंजाम देती है, बाकी ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी दल थोड़ा सम्भलकर करते रहे हैं।

हर मज़दूर अपने अनुभव से

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

दिहाड़ी मज़दूरों की जिन्दगी!

मैं एक भवन निर्माण मज़दूर हूँ। मैं बिहार से रोजी-रोटी के लिए दिल्ली आया हूँ। यहाँ मुश्किल से 30 दिनों में 20 दिन ही काम मिल पाता है। जिसमें भी काम करने के बाद पैसे मिलने की कोई गारन्टी नहीं होती है। कहीं मिल जाते हैं तो कहीं दिहाड़ी भी मार ली जाती है। कोई-कोई मालिक तो जबरन पूरा काम करवाकर पैसे पूरे नहीं देते हैं और ज़्यादा समय तक काम करने पर उसका अलग से मज़दूरी भी नहीं देते हैं।

कई जगह मालिक पैसे के लिए इतना दौड़ाते हैं कि हमें लाचार होकर अपनी दिहाड़ी ही छोड़नी पड़ती है। यहाँ जगह-जगह लेबर चौक भी लगता है। जहाँ न बैठने की जगह है न पानी पीने की। चौक से जबरन कुछ मालिक काम पर ले जाते हैं, नहीं जाने पर पिटाई भी कर देते हैं।

दूसरी तरफ दिहाड़ी मज़दूरों की बदतर हालात सिर्फ़ काम की जगह नहीं बल्कि उनकी रहने की जगह पर भी है जहाँ हम तंग कमरे में रहते हैं। हमारे बच्चे मुश्किल से ही पढ़ने-लिखने जा पाते हैं। अगर हमारे परिवार में कोई बीमार हो जाता हैं तो हमारे सामने सस्ते इलाज के लिए झोलाछाप डाक्टर के सिवा कोई नहीं है और हमारी बीमार का भी कारण पीने का गन्दा पानी और नालियों में बजबजाते मच्छर हैं। हमें पेट काटकर ही जीना पड़ता है और ये स्थिति आसपास भी दिहाड़ी मज़दूरों की दिखती है।

वैसे तो अब कारख़ानों में भी मज़दूरों की यूनियन खत्म कर दी गयी है लेकिन निर्माण मजदूरों की हालत तो बहुत खराब है। यहाँ कोई एकजुटता नहीं होने से हमारा बहुत शोषण है। मजदूर आज यहाँ तो कल वहाण काम करते हैं, इसलिए भी एक जगह बँधकर एकजुट नहीं हो पाते। हालाँकि मैंने सुना है कि बाहर देशों में कंस्ट्रक्शन लेबर की यूनियन भी होती हैं। हमें भी यूनियन बनाकर एक होना पड़ेगा वरना ये मालिक हमको जीने नहीं देंगे और हमारे बच्चे भी ऐसे ही ग़रीबी-कंगाली में जीने के लिए मजबूर रहेंगे।

– जीउत राम, दिल्ली

बिगुल के लेख अच्छे लगते हैं

मैं 'मज़दूर बिगुल' लगभग हर अंक पढ़ता हूँ। मुझे इसके लेख बहुत अच्छे लगते हैं। यह अख़बार बहुत अच्छा काम कर रहा है क्योंकि इससे हमें वो सच्चाइयाँ मालूम पड़ती हैं जो कोई नहीं बताता।

मज़दूरों के साथ इस देश में क्या हो रहा है इसे कोई मीडिया नहीं दिखाता न ही कोई अख़बार इसे छापता है जबकि हम मज़दूरों के बिना ये चैनल और अख़बार भी नहीं चल सकते हैं।

चौबीसों घण्टे चलने वाले टीवी चैनलों में हम मज़दूरों के जीवन पर न तो कोई समाचार होता है और न ही मनोरंजन के नाम पर परोसे जाने वाले कार्यक्रमों में हमारी असली ज़िन्दगी दिखाई देती है।

मज़दूरों के संघर्षों के इतिहास के बारे में बिगुल में और भी जानकारी देते रहना चाहिए जिससे आज के निराशा के माहौल में हमें भी लड़ने की प्रेरणा मिले।

– राकेश कुमार, पानीपत

मज़दूर बिगुल डाक से न पहुँचने की शिकायतों के बारे में

हमें 'मज़दूर बिगुल' के कई नियमित पाठकों की ओर से अक्सर ऐसी शिकायतें मिल रही हैं कि अख़बार की प्रति उन्हें मिल ही नहीं रही है या अनियमित मिल रही है। ऐसे साथियों से आग्रह है कि वे एक बार अपने निकटतम डाकघर में लिखित शिकायत दर्ज करायें और उसकी प्रति हमें भी ईमेल या व्हाट्सएप पर भेज दें, ताकि हम जिस डाकघर से अख़बार पोस्ट करते हैं, वहाँ भी शिकायत दर्ज करा सकें।

पिछले काफ़ी समय के अनुभव और डाक विभाग के ही अनेक कर्मचारियों व अधिकारियों से बात करने के आधार पर यह स्पष्ट है कि यह सरकार जानबूझकर डाक विभाग की जनसेवाओं को नष्ट कर रही है ताकि इसके भी बड़े हिस्से को निजीकरण की ओर धकेला जा सके। एक तरफ़ सेवाओं के दाम बढ़ाये जा रहे हैं, दूसरी ओर नयी भर्तियाँ नहीं करने, ठेकाकरण बढ़ाने और डाकिये सहित तमाम कर्मचारियों पर काम का बोझ बढ़ाते जाने से भी सेवाएँ प्रभावित हो रही हैं।

'बिगुल' जैसे जनपक्षधर पत्र-पत्रिकाओं और हमारे पाठकों के लिए इससे कठिनाइयाँ बढ़ गयी हैं लेकिन हम पूरी कोशिश कर रहे हैं कि आप तक अख़बार पहुँचता रहे। इसमें हमें आपका भी सहयोग चाहिए।

साधारण डाक की अव्यवस्था और अनिश्चितता से बचने के लिए 'मज़दूर बिगुल' को आप रजिस्टर्ड डाक (ज्ञान पोस्ट) से मँगवा सकते हैं। इसके लिए आपको प्रति अंक 25/- के हिसाब एक साल के 300/- अतिरिक्त भेजने होंगे।

रजिस्टर्ड डाक के ख़र्च सहित नयी वार्षिक सदस्यता का शुल्क 425 रुपये होगा।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

प्रिय पाठको, अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।
मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं।
नम्बर है : 8853476339

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016
फ़ोन: 8853476339

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

मूल्य : एक प्रति – 10/- रुपये
वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित)
आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

रजिस्टर्ड डाक से मँगवाने हेतु 300/- प्रति वर्ष अतिरिक्त भेजें।

दिल्ली का जानलेवा प्रदूषण और आँगनवाड़ी केन्द्रों, बच्चों व आँगनवाड़ीकर्मियों के प्रति सरकार की अनदेखी!!

राजधानी में एक बार फिर प्रदूषण भयंकर स्तर पर पहुँच चुका है। हवा की गुणवत्ता इतनी ख़राब हो चुकी है कि लोग हर रोज़ बीमारियों की चपेट में आ रहे हैं। प्रदूषण से हो रहीं मौतों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। डॉक्टरों का कहना है कि यह जनस्वास्थ्य के लिए बेहद चिन्ताजनक स्थिति है क्योंकि दिल्ली की हवा में साँस लेने का मतलब है अपने भीतर ज़हर लेना!

साल 2023 के एक आँकड़े के मुताबिक़ मरने वालों में हर 7 में से 1 व्यक्ति प्रदूषण की वजह से अपनी जान गँवा रहा है। प्रदूषण का सबसे घातक प्रभाव छोटे बच्चे पर पड़ता है। ऐसा इसलिए क्योंकि बच्चों का क़द छोटा होने की वजह से वे ज़मीन के नज़दीक होते हैं जहाँ हवा में प्रदूषकों का संकेन्द्रण सबसे अधिक होता है। वहीं दूसरी तरफ़ बच्चे बड़ों की अपेक्षा ज़्यादा तेज़ गति से साँस लेते हैं, जिसकी वजह से उनके शरीर में कम समय में ज़्यादा प्रदूषक तत्व जाते हैं। तीसरा यह कि बच्चों की रोग-प्रतिरोधक क्षमता भी इस ज़हरीले प्रदूषण को नहीं झेल पाती और हमारे देश में तो एक बड़ी संख्या ऐसे बच्चों की है जो कुपोषण के शिकार हैं जिसके कारण उन्हें न सिर्फ़ तात्कालिक तौर पर साँस और फेफड़े की बीमारियाँ हो रही हैं बल्कि उनके मष्तिष्क पर भी इसका बेहद प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

'एनवायर्नमेंटल साइंस एंड पॉल्यूशन रिसर्च जर्नल' में छपी 2021 की एक रिपोर्ट के मुताबिक़, राजधानी दिल्ली में दिवाली के बाद प्रदूषण के असहनीय स्तर पर पहुँचने से रोज़ाना अस्पतालों के इमरजेंसी रूम में जाने वालों की संख्या में लगभग 30 प्रतिशत की बढ़ोतरी देखने को मिली है। एक रिसर्च के मुताबिक़ वायु की ख़राब गुणवत्ता की वजह से दिल्ली में 2 लाख़ से अधिक स्कूली बच्चों के फेफड़ों को ऐसा नुकसान हुआ है जिसे ठीक नहीं किया जा सकता। हवा में मौजूद प्रदूषकों के अत्यधिक सम्पर्क में आने से बच्चों में कैंसर जैसी भयानक बीमारी के होने का ख़तरा भी मौजूद होता है।

पिछले कुछ वर्षों में और ख़ासकर इस वर्ष दिल्ली में प्रदूषण जिस क़दर बढ़ा है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अब हालत कैसी होगी।

दिल्ली की आँगनवाड़ियों में लाखों बच्चे रोज़ाना जाते हैं लेकिन उनके प्रति सरकार पूरी तरह से आँख मूँद कर बैठी है! वायु प्रदूषण के बढ़ते ही सीएम ऑफ़िस के लिए 5.5 लाख के 'एयर प्यूरिफ़ायर' ख़रीद लिये जाते हैं लेकिन आँगनवाड़ियों और स्कूलों को खुला रखकर बच्चों को मरने के लिए छोड़ दिया जाता है। वायु प्रदूषण की चपेट में सबसे अधिक मेहनतकश आबादी और उनके घरों से आने वाले बच्चे आते हैं क्योंकि न तो उनके लिये एयर प्यूरीफ़ायर है, ना ही वे बेहतर पोषण हासिल कर सकते हैं और बीमार पड़ने पर न उन्हें बेहतर चिकित्सा सुविधा मिल पाती है। आँगनवाड़ी में जाने वाले अधिकांश बच्चे मज़दूरों-मेहनतकशों या निम्न-मध्यम वर्गीय परिवारों से आते हैं जिनके लिए उपरोक्त कारणों की वज़ह से इस जानलेवा प्रदूषण से बचने का कोई विकल्प सरकार ने नहीं छोड़ा है! आँगनवाड़ी केन्द्रों, बच्चों व आँगनवाड़ीकर्मियों के प्रति यह लापरवाही एक बार फ़िर भाजपा सरकार के जन-विरोधी, आँगनवाड़ीकर्मी-विरोधी चेहरे को हमारे सामने उजागर करती है।

भाजपा सरकार, जो सत्ता में आने से पहले प्रदूषण को रोकने के नाम पर तमाम डींगें हाँक रही थी, की असलियत तब सामने आ गयी जब दिल्ली की जनता को मूर्ख बनाते हुए इसने यह कहा कि इस बार दिल्ली में पटाख़े जलाने से कोई प्रदूषण हुआ ही नहीं और वहीं दूसरी तरफ़ हवा की गुणवत्ता मापने वाली मशीनों के डाटा को कम करने की कवायद में जुट गये! इस तरह की हरकतें न सिर्फ़ लोगों के साथ धोखा है बल्कि उनके जीवन के साथ खिलवाड़ है। प्रदूषण की समस्या पर इनकी आँख तब खुली जब दिल्ली में जन प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू हुआ। इसकी वजह से रेखा गुप्ता सरकार ने दिखावे के लिए कुछ क़दम उठाने शुरू कर दिये हैं जैसे छोटे बच्चे के स्कूलों को हाइब्रिड मोड में करने की नौटंकी, पुरानी गाड़ियों पर रोक लगाना इत्यादि।

लेकिन यह सारे क़दम प्रदूषण की समस्या को कम करने में रत्तीभर भी कारगर नहीं हैं क्योंकि यह असल में बढ़ते प्रदूषण का कारण हैं ही नहीं। प्रदूषण का सबसे बड़ा कारण सालभर फ़ैक्ट्रियों से निकलने वाला हानिकारक धुँआ और गैस है जिस पर कोई रोक-टोक नहीं लगायी जाती है और ठण्ड के समय में प्रदूषण के चरम पर पहुँचने पर कुछ दिखावटी काम शुरू कर दिये जाते हैं। इसके अलावा निजी वाहनों, जिसमें सबसे अधिक कारें शामिल हैं, से निकालने वाला धुआँ भी प्रदूषण का एक बड़ा कारण है। साथ ही, हरियाणा और पंजाब में सर्दी के वक़्त किसानों (मुख्य तौर पर धनी किसानों-कुलकों द्वारा) द्वारा पराली जलाना भी दिल्ली में प्रदूषण की समस्या को बढ़ाता है। इन सबके अलावा, दिल्ली में प्रदूषण का एक कारण दिवाली के वक़्त पटाख़ों पर कोई नियंत्रण न होना भी है और साथ ही सस्ते व बेहतर सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था की अनुपलब्धता है। जब तक इन कारणों पर काम नहीं किया जायेगा तब तक आम जनता, छोटे बच्चे ऐसे ही मरने के लिए मजबूर रहेंगे!

हमारी माँग है कि इस आपातकालीन स्थिति को नियंत्रित करने के लिये रेखा गुप्ता सरकार त्वरित तौर पर निम्नलिखित कदम उठाये :

1) प्रदूषण के वास्तविक कारणों से निपटने के लिए दीर्घकालिक योजना बनायी जाये और उसे जनता के सामने पेश किया जाये।

2) छोटे बच्चों पर प्रदूषण का जानलेवा असर देखते हुए, तात्कालिक तौर पर इससे बचाव के लिए (स्थिति में नियंत्रण होने तक) आँगनवाड़ियों और छोटे बच्चों के स्कूलों को बन्द रखा जाये।

3) सार्वजनिक परिवहन की सुविधा को बेहतर किया जाये जिससे कि लोगों के लिए आसानी से सफ़र करने का विकल्प मौजूद हो और निजी वाहनों से हो रहे प्रदूषण पर रोक लगायी जा सके।

4) प्रदूषण के कारण होने वाली बीमारियों के इलाज के लिए तुरन्त निःशुल्क और उचित स्वास्थ्य सेवा मुहैया करायी जाये।

– दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन (DSAWHU) की ओर से

शिक्षा के निजीकरण की भेंट चढ़ गया यूपी के छात्र उज्जवल का जीवन

● बिगुल संवाददाता

उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले के बुढ़ाना स्थित डी.ए.वी. कॉलेज में मात्र परीक्षा शुल्क के विवाद ने एक मेहनतकश छात्र की जान ले ली। तीन दिन तक कॉलेज प्रशासन और पुलिस के चक्कर लगाने के बाद, जब हर दरवाज़ा बन्द मिला – तो उसने कॉलेज के भीतर ही अपने ऊपर पेट्रोल छिड़ककर आग लगा ली। यह कोई आत्महत्या नहीं थी; यह उस व्यवस्था के ख़िलाफ़ एक आग का गोला था, जिसने शिक्षा को अधिकार नहीं, बल्कि "व्यापार" बना दिया है। यह आत्महत्या नहीं, बल्कि मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था द्वारा की गई हत्या है।

बी.ए. द्वितीय वर्ष का छात्र उज्जवल राणा एक साधारण किसान परिवार से था। जब कॉलेज प्रशासन ने कहा कि "पहले फ़ीस जमा करो, तभी परीक्षा दे पाओगे," तो यह आदेश केवल उसके लिए नहीं था – यह उन लाखों छात्रों के लिए भी था जो आज देशभर में फ़ीस, किताबों और किराये के बोझ तले दबे हुए हैं। उज्जवल की ही तरह हज़ारों छात्र रोज़ इस व्यवस्था के "शिक्षा माफ़ियाओं" से जूझ रहे हैं। पिछले दो दशकों में सरकारों ने शिक्षा से धीरे-धीरे अपने हाथ खींच लिये हैं। मोदी सरकार की 'नई शिक्षा नीति' (NEP-2020) ने इस प्रक्रिया को और तेज़ कर दिया है। सरकारी विश्वविद्यालयों में बजट घटाया जा रहा है, फ़ीसें बढ़ाई जा रही हैं और 'सेल्फ़-फ़ाइनेंस कोर्स' के नाम पर निजी पूँजी को खुला न्योता दिया जा रहा है।

सरकार कहती है – "शिक्षा में

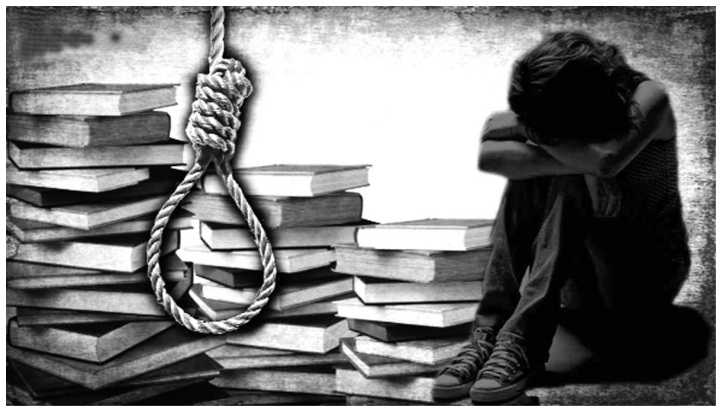

आत्मनिर्भर बनो," लेकिन असल में इसका मतलब है कि ग़रीब और मेहनतकश वर्ग के बच्चों को विश्वविद्यालयों से बाहर धकेल दिया जाये, ताकि अमीर वर्ग और कॉरपोरेट यूनिवर्सिटी इस क्षेत्र पर क़ब्ज़ा कर सकें। आज पूरी उच्च शिक्षा "कॉरपोरेट बिज़नेस मॉडल" पर चल रही हैं – फ़ीस बढ़ाओ, ठेके पर पढ़ाई दो, ठेके पर सफ़ाई दो, और मुनाफा निजी हाथों में बाँटो! – यही आज की शिक्षा व्यवस्था की असली तस्वीर है। वहीं दूसरी तरफ डी.ए.वी. कॉलेज जैसी संस्थाएँ अब धार्मिक ट्रस्टों या निजी हाथों में पूँजी निवेश का ज़रिया बन गयी हैं। ऐसे में प्रशासन और पुलिस मिलकर ग़रीब छात्रों की आवाज़ को दबाने में जुटे हैं।

आज मोदी सरकार की नीतियाँ स्पष्ट रूप से शिक्षा-विरोधी हैं। सरकारी बजट में शिक्षा पर खर्च लगातार घटाया जा रहा है। सरकारी कॉलेजों का निजीकरण "स्व-वित्तपोषित" और "पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप" के नाम पर तेज़ी से बढ़ाया जा रहा है। छात्रवृत्तियाँ घटायी जा रही हैं, जिससे ग़रीब छात्रों के लिए पढ़ाई नामुमकिन होती जा रही है। विश्वविद्यालयों में जनवादी स्पेस लगातार संकुचित किया जा रहा है। शिक्षा पर यह हमला कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि इस फ़ासीवादी निज़ाम की सुनियोजित नीति का हिस्सा है, जो 'नई शिक्षा नीति 2020' के ज़रिये व्यवस्थित रूप से लागू की जा रही है। इसके ज़रिये केन्द्र और राज्य विश्वविद्यालयों में आम घरों से आने वाले छात्रों के प्रवेश को जानबूझकर कठिन बना दिया गया है।

उज्जवल ने अपने वीडियो सन्देश में इस पूँजीवादी व्यवस्था का असली चेहरा उजागर कर दिया था। उसकी यह मृत्यु केवल एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि उन तमाम आम घरों के छात्रों की भी है, जो आज बढ़ती फ़ीसों, घटती सीटों और घटते अवसरों की मार झेल रहे हैं। आज अधिकांश कैम्पसों में छात्रावासों की कमी, महंगी कैण्टीनें, खराब मेस, मेडिकल सुविधाओं का अभाव, साइकिल स्टैण्ड की कमी, शिक्षकों की कमी एक आम परिदृश्य है। लड़कियों के लिए "पिंक टॉयलेट" या "पिंक हॉल" जैसी घोषणाओं का महज़ दिखावा किया जा रहा है जबकि सच इस नौटंकी से कोसों दूर है। यह सब मिलकर बताता है कि शिक्षा किस तरह से आम छात्रों की पहुँच से बाहर होती चली जा रही है।

आज यह बात आम घरों से आने वाले छात्रों-नौजवानों को समझनी होगी कि फ़ीस वृद्धि की वजह से उज्जवल द्वारा की गयी आत्महत्या असल में 'हत्या' है। और हत्यारी यह पूँजीवादी व्यवस्था और आज हमारे देश में मौजूद फ़ासीवादी निज़ाम है जिसने शिक्षा को एक बिकाऊ माल बना दिया है। हमें यह बात भी समझनी होगी कि शिक्षा के निजीकरण के ख़िलाफ़ देशव्यापी आन्दोलन को तेज़ किये बगैर हम ऐसे कई उज्जवलों को खोते रहेंगे! इसलिए हमें शिक्षा के निजीकरण के ख़िलाफ़ आज पुरज़ोर तरीक़े से आवाज़ बुलन्द करनी होगी। शिक्षा को मुनाफ़े का ज़रिया नहीं, बल्कि जनता का अधिकार बनाना होगा। छात्र उज्जवल की यह मौत व्यर्थ नहीं जानी चाहिए – यह नयी पीढ़ी को उस पूँजीवादी, मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था के ख़िलाफ़ खड़े होने की चुनौती देती है जिसने एक मेहनतकश छात्र की ज़िन्दगी छीन ली जिसकी आँखों में हर नौजवान की तरह कई सपने रहे होंगे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) का वहशी चेहरा एक बार फिर बेनक़ाब

● अंजलि

हाल ही में केरल में एक दिल दहला देने वाली घटना सामने आयी है। इस घटना ने एक बार फिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के 'चाल-चेहरा-चरित्र' को बेनक़ाब कर दिया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य न केवल स्त्री-विरोधी, दलित-विरोधी, अल्पसंख्यक-विरोधी हैं बल्कि सम्पूर्ण मानवता के विरोधी भी हैं। केरल में आनन्दु के साथ हुई वीभत्सता आरएसएस की "संस्कृति" और "राष्ट्रभक्ति" के दावे को पूरी तरह नंगा करती है।

दरअसल केरल के एक 26 वर्षीय आईटी प्रोफेशनल आनन्दु अजी ने आरएसएस के सदस्यों द्वारा यौन उत्पीड़न और मानसिक उत्पीड़न को वर्षों तक झेलने के बाद ज़िन्दगी से हार मान ली और आत्महत्या कर ली। आनन्दु ने आत्महत्या करने से पहले अपना आख़िरी नोट इंस्टाग्राम पर शेयर कर बताया कि 3-4 साल की उम्र से ही आरएसएस की शाखा में उनके साथ बर्बर यौन शोषण होता रहा है जिसमें आरएसएस के स्थानीय नेता निधीश मुरलीधरन सहित कई नाम शामिल हैं। आनन्दु अपने अन्तिम नोट में नौजवानों को आरएसएस के लोगों से दोस्ती न करने की सलाह देते हैं। साथ ही यह भी बताते हैं की आरएसएस में इस तरह के शारीरिक और मानसिक शोषण के शिकार वह अकेले नहीं थे यानी और भी ऐसे बच्चे हैं जिनका बर्बर शोषण आज भी बदस्तूर जारी है।

आप देख सकते हैं कि यह घटना संघियों के बीमार दिमाग़ों को किस प्रकार उजागर करती है। फासीवादियों का इतिहास भी इस बात का प्रमाण है और उनका वर्तमान भी इस बात की ही पुष्टि करता है। इनके पूर्वज भी भयानक मनोविकृति और रुग्ण मानस का ही परिचय देते रहे हैं, वे चाहे जर्मनी के नात्सी रहे हों, या इटली के फ़ासीवादी रहे हों, या अपने देश के संघियों की फौज हो।

इन मानवता के दुश्मनों के लिए मानव शरीर केवल भोग की वस्तु हैं जिसे ये पशुवत भोग लेना चाहते हैं। गुजरात दंगों से लेकर मुज़फ्फ़रनगर दंगों तक, कठुआ से लेकर हाथरस तक में इन नरपशुओं की बर्बरता पूरी दुनिया ने देखी है। ये संघी वैम्पायर समाज में तो लूट, शोषण, बलात्कार जैसे बर्बरता को अंज़ाम देते ही हैं, अपने संगठन में भी उन लोगों को अपने हवस का शिकार बनाते रहते हैं जो उनके कुकर्मों को सर झुका कर सह लेते हैं और अन्दर ही अन्दर घुटते हुए अन्ततः जीवन ख़त्म करने की दिशा में आगे बढ़ जाते हैं। केरल की यह जुगुप्सा पैदा करने वाली घटना भी संघ परिवार की इसी असलियत को सामने लाती है और इनके असली "संस्कारों" की कलई खोल देती है।

संघियों की मनोरुग्णता की यह कोई पहली घटना नहीं है। इसके पहले भी आरएसएस के कई सदस्यों पर इस तरह के गम्भीर आरोप लगाये जा चुके है। हमें समझना होगा कि आख़िर हर समय "चरित्र" और "संस्कार' का जाप करने वाले चारित्रिक पतनशीलता में इस कदर गिरे हुए क्यों पाये जाते हैं? क्यों संघ परिवार और भाजपा से जुड़े लोगों का नाम ही सबसे अधिक यौन-उत्पीड़न से लेकर बलात्कार की घटनाओं में आगे आता है?

इसको समझने के लिए हमे संघ के पूरे ढाँचे को भी समझना होगा। संघ के ढाँचे में शुरू से ही समानता, जनवाद और सहमति के लिए कोई जगह नहीं रही है। लम्बे समय तक तो संघ का दरवाजा सिर्फ़ पुरुषों के लिए खुला था। बहुत बाद में समाज के रुख के हिसाब से संघ की महिला शाखा 'राष्ट्र सेविका समिति' बनायी गयी, हालाँकि इससे संघ की घनघोर स्त्री-विरोधी सोच और पितृसत्तात्मक विचारधारा व संस्कृति पर कोई असर नही पड़ा। दरअसल संघ से जुड़ी तमाम स्त्रियाँ खुद भयंकर तौर पर स्त्री-विरोधी और पितृसत्तात्मक

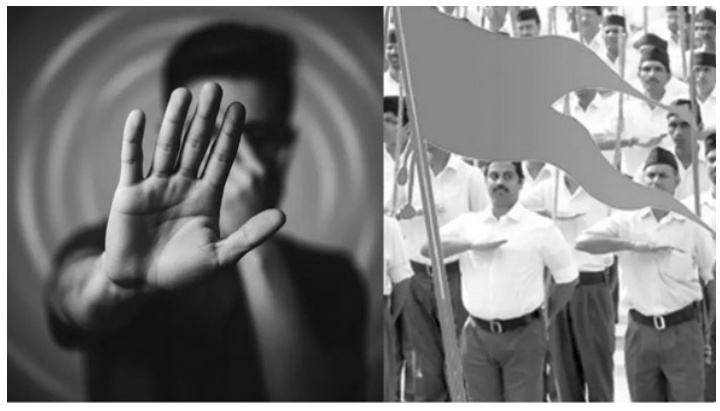

मूल्यों की समर्थक हैं।

संघी अपने पूर्वज फ़ासिस्टों की तरह ही स्त्रियों को बच्चा पैदा करने वाली मशीन और पति को खुश करने वाली सेविका से ज़्यादा कुछ नहीं समझते हैं। दूसरी तरफ ये स्त्रियों को नरक का द्वार भी समझते हैं! यही वजह है कि संघ में सरसंघचालक आजीवन अविवाहित रहता है और पूरावक्ती कार्यकर्ता भी अविवाहित रहते हैं। चूँकि संघ का ढाँचा ही समानता, जनवाद, तार्किकता और किसी भी प्रकार की सहमति को कुचलकर खड़ा हुआ है इसलिए सहज मानवीय भावनाओं जैसे समानता, जनवाद , सहमति आदि पर कोई रिश्ता बनता ही नहीं है। यही कारण है कि कई प्रकार के यौन अपराधों में संघ परिवार से जुड़े लोग संलिप्त पाये जाते हैं। इस प्रकार की बर्बरताओं के उदाहरणों से इतिहास भरा हुआ है।

अगर वर्तमान की बात करें तो आरएसएस कार्यकर्ता सतीश मिश्रा ने अपनी ही बेटी के साथ बलात्कार किया। आईआईटी बीएचयू में बन्दूक की नोक पर संघ के छात्र विंग 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद' के सदस्यों ने एक छात्रा के साथ सामूहिक बलात्कार किया और पीड़िता का वीडियो भी बनाया। कुलदीप सिंह सेंगर से लेकर चिन्मयानन्द, बृजभूषण शरण सिंह तक का मामला किसी भी संजीदा व्यक्ति को भला कैसे भूल सकता है। हर मामले में इन अपराधियों को सत्ता का संरक्षण प्राप्त था।

ये इनके "संस्कारों" का ही प्रमाण है कि कठुआ में बच्ची के साथ निर्मम बलात्कार की घटना पर संघी भाजपाई तिरंगा यात्रा निकाल रहे थे, बिलकीस बानो के आरोपियों का ज़मानत के बाद पर माला पहनाकर स्वागत किया जा रहा था और आईआईटी बीएचयू के गैंगरेप के आरोपी की ज़मानत होने पर केक काटकर स्वागत किया जा रहा था!

आये-दिन मोदी सरकार और तमाम भाजपा सरकारों द्वारा आसाराम और राम रहीम जैसे बलात्कारियों को पेरोल पर बाहर निकलने का मौक़ा दिया जाता है। ऐसी स्थिति में इन बर्बर बलात्कारियों के हौसले बुलन्द ही होंगे। देश के शीर्षस्थ पद पर विराजमान प्रधानमंत्री मोदी कर्नाटक में प्रज्ज्वल रेवन्ना जैसे बलात्कारी और यौन अपराधी के साथ मंच साझा करते है जिसपर 2800 महिलाओं के साथ रेप का मामला है। जब शासन-प्रशासन से लेकर देश के सबसे बड़े "राष्ट्रवादी" संगठन यानी संघ परिवार में इस तरह के लोग भरे हों तो समझा ही जा सकता है कि आज देश की आम स्त्रियों और बच्चों को सबसे बड़ा खतरा भाजपा और संघ परिवार से ही है। यह ज़ाहिर है कि आज के दौर में ऐसी भयानक मानसिकता को पोषित करने का काम भाजपा और संघ के लोग ही कर रहे हैं। ये लोग आज पूरे समाज के पोर-पोर में पितृसत्तात्मक मूल्य-मान्यताओ को फैलाने का काम कर रहे हैं। संघ के ही सरसंघचालक मोहन भागवत का निर्भया काण्ड के बाद बयान आया था कि स्त्रियों को लक्ष्मण रेखा नहीं लाँघनी चाहिए! केवल यह बयान ही दिखला देता है कि यह संगठन किस प्रकार के घटिया प्रतिक्रियावादी विचारों का वाहक है।

आज हमे यह समझना होगा फ़ासीवाद एक धुर-दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है जो समाज को पीछे ले जाने का काम करता है और भारत में संघ परिवार यही काम कर रहा है। फ़ासीवादी विचारधारा समानता, जनवाद व तार्किकता के विरोध में खड़ी होती है और दलित-विरोधी, अल्पसंख्यक-विरोधी, स्त्री-विरोधी होने के साथ ही हर प्रकार के जेंडरगत और लैंगिक दमन और उत्पीड़न को बढ़ावा देती है। यह विचारधारा दरअसल सम्पूर्ण मानवता और प्रगति के विरोध में खड़ी है। इसलिए हमारा यह फ़र्ज़ बनता है कि हमें हर ऐसी घटना का विरोध करना चाहिए तथा जनता के बीच संघ के "चाल, चरित्र, चेहरे" को नंगा करके इनके "संस्कार" और "शुचिता" की पोल-पट्टी खोल देनी चाहिए। इसके साथ ही जनता के बीच लगातार समानता, जनवाद, तार्किकता और सच्चे सेक्युलरिज़्म से लैस विचारों का प्रचार-प्रसार करने के लिए अपने कार्यभार सुनिश्चित करने चाहिए।

"माओवाद" से लड़ने के नाम पर राजनीतिक कार्यकर्ताओं और आम आदिवासियों की न्यायेतर हत्याएँ बन्द करो

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) आन्ध्र प्रदेश पुलिस द्वारा सीपीआई (माओवादी) के नेतृत्वकारी सदस्य मादवी हिडमा और उनके छह साथियों की हत्या की पुरज़ोर मुख़ालफ़त करती है!

'ऑपरेशन कगार' और "माओवाद" से लड़ने के नाम पर राजनीतिक कार्यकर्ताओं और आम आदिवासियों की न्यायेतर हत्याएँ और मुठभेड़ करना फ़ासीवादी मोदी सरकार तत्काल बन्द करे!

विगत 18 नवम्बर को आन्ध्र प्रदेश में सीपीआई (माओवादी) के शीर्ष नेता मादवी हिडमा और उनके छः साथियों की सुरक्षा बलों द्वारा हत्या कर दी गयी। उनके शरीर पर मौजूद निशानों से यह साफ़ है कि उनकी हत्या से पहले उनके साथ अमानवीय बर्बरता की गयी थी। हिडमा और उनके साथियों को कुछ दिनों पहले आन्ध्र प्रदेश में गिरफ़्तार किया गया था और मारेडुमिल्ली जंगलों में ले जाकर उनका फ़र्ज़ी एनकाउण्टर (क़त्ल) कर दिया गया।

ज्ञात हो कि इससे पहले सीपीआई (माओवादी) के महासचिव एन. केशव राव उर्फ बसवराजू समेत लगभग 264 माओवादियों की इसी प्रकार की न्यायेतर हत्याएँ इस साल मोदी-शाह सरकार "उग्रवाद-विरोधी ऑपरेशन" के नाम पर पहले ही अंजाम दी चुकी हैं।

फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा की जा रही ये हत्याएँ एक बार फिर उसके जन-विरोधी और पूँजी-परस्त चरित्र को उजागर करती हैं। ''माओवादियों'' से लड़ने के नाम पर मोदी-शाह सरकार द्वारा शुरू किया गया 'ऑपरेशन कगार' वास्तव में भारतीय तथा विदेशी पूँजी द्वारा मध्य भारत के खनिज-समृद्ध क्षेत्रों के शोषण व लूट के लिए रास्ता तैयार करने का ऑपरेशन है। माओवादियों और आम आदिवासियों की ये न्यायेतर हत्याएँ इन्हीं पूँजी-परस्त और जनविरोधी लक्ष्यों को हासिल करने के लिए की गयी हैं।

ग़ौरतलब है कि इस साल की शुरुआत में सीपीआई (माओवादी) के शान्तिवार्ता के प्रस्ताव के बावजूद मोदी सरकार अपने राजनीतिक विरोधियों का क़त्लेआम कर रही है। अन्तरराष्ट्रीय क़ानूनों और परम्पराओं के अनुसार भी लोकतांत्रिक आधार पर बनी किसी भी सरकार को हिंसा और दमन के दुष्चक्र को समाप्त करने के इस प्रस्ताव को स्वीकार करना चाहिए था। लेकिन 'ऑपरेशन कगार' का जारी रहना यह दिखाता है कि मोदी सरकार का इरादा उस क्षेत्र में लोकतांत्रिक तरीक़े से शान्ति बहाल करना नहीं बल्कि उस समूचे क्षेत्र में राजनीतिक विरोधियों का सफ़ाया करके उसे खाली कराने का है ताकि आम तौर पर पूँजी और ख़ास तौर बड़े पूँजीपतियों के हितों को साधा जा सके।

दरअसल मोदी सरकार द्वारा किया जा रहा राजकीय दमन और अंजाम दी जा रही ये ठण्डी हत्याएँ न केवल उसके जनविरोधी फ़ासीवादी चरित्र को उजागर करने का काम करती हैं बल्कि यह भी साबित करती हैं कि क्यों भाजपा आज के वक़्त में भारत के पूँजीपति वर्ग की सबसे चहेती पार्टी है!

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) मोदी सरकार द्वारा जारी सीपीआई (माओवादी) के नेतृत्व और आम कार्यकर्ताओं की हत्याओं की भर्त्सना करती है और माँग करती है कि इन तमाम हत्याओं की उच्च-स्तरीय न्यायिक जाँच हो। साथ ही 'ऑपरेशन कगार' समेत तमाम तथाकथित "उग्रवाद-विरोधी ऑपरेशनों" को तत्काल बन्द किया जाये। इसके अलावा मध्य भारत समेत पूरे भारत में लगाये जाने वाले आपवादिक क़ानूनों को तुरन्त भंग किया जाये।

– भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) की ओर से जारी

उत्तर प्रदेश औद्योगिक संशोधन क़ानून : मुँह में राम बगल में छुरी

● प्रसेन

फ़ासीवादी योगी सरकार 'मुँह में राम बगल में छुरी' कहावत को बार-बार चरितार्थ करती रहती है। अभी हाल ही में योगी ने मज़दूरों का गुणगान करते हुए कहा था कि, "मज़दूर केवल ईंट-पत्थर जोड़ने वाले नहीं होते बल्कि भविष्य की नींव रखने वाले होते हैं, चाहे काशी विश्वनाथ कॉरीडोर हो या महाकुम्भ का आयोजन! खुद प्रधानमन्त्री मोदी ने काशी में मज़दूरों के चरण पखारे थे।" दुनिया के सारे फ़ासिस्टों की तरह भारतीय फ़ासिस्टों के चरित्र में एक बात समान रूप से पायी जाती है कि जब फ़ासिस्टों को मेहनतकशों के हक़ों पर कोई नया डाका डालना होता है या कोई मज़दूर-विरोधी नया क़ानून लाना होता है, तो पहले वे मज़दूरों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, उनके योगदान को 'राष्ट्र' के विकास या धर्म/आस्था से जोड़ते हैं। योगी सरकार का ऊपर का बयान और उसके बाद हाल ही में योगी सरकार द्वारा पारित किया गया 'कारख़ाना (उत्तर प्रदेश संशोधन) अधिनियम, 2024' इसी की एक बानगी है।

ग़ौरतलब है कि 3 अक्तूबर को योगी सरकार द्वारा कारख़ाना (उत्तर प्रदेश संशोधन) विधेयक, 2024 को उत्तर प्रदेश अधिनियम संख्या 14, 2025 के रूप में लागू कर दिया गया है। इस नये अधिनियम के प्रमुख बदलाव और संशोधन ध्यान देने योग्य हैं।

पहला, राज्य सरकार अब कारख़ानों में अधिकतम दैनिक काम के घण्टों को 8 घण्टे से बढ़ाकर 12 घण्टे तक कर सकती है। मज़दूर की सहमति से मज़दूर बिना ब्रेक लिए 6 घण्टे लगातार काम कर सकता है। यद्यपि काम के घण्टे सप्ताह में 48 से ज़्यादा नहीं हो सकते। **दूसरा,** ओवरटाइम काम की त्रैमासिक (तीन महीने की) सीमा को 75 घण्टे से बढ़ाकर 144 घण्टे कर दिया गया है। **तीसरा,** महिलाओं को अब कारख़ानों में रात 7 बजे से सुबह 6 बजे के बीच (नाइट शिफ्ट में) काम करने की अनुमति है, बशर्ते उनकी सुरक्षा और सुविधाओं के लिए विशेष इन्तज़ाम किए जाएँ, जैसे कि पर्याप्त रोशनी, सीसीटीवी कैमरे, सुरक्षित परिवहन और हेल्पलाइन नम्बर। **चौथा,** व्यापार सुगमता (*ईज़ ऑफ डूइंग बिज़नेस*) को बढ़ावा देने के लिए, सरकार 13 राज्य क़ानूनों में कई प्रावधानों को अपराधमुक्त कर रही है, जिसमें श्रम क़ानूनों से सम्बन्धित आपराधिक प्रावधान भी शामिल हैं।

यह बदलाव/संशोधन मामूली नहीं हैं। अगर पहले बदलाव पर बात की जाये तो यह वास्तव में मई दिवस के शहीदों और मज़दूर वर्ग द्वारा पूँजीपति वर्ग और उसकी सरकार से सैकड़ों साल पहले जीते गये ऐतिहासिक '8 घण्टे काम, 8 घण्टे आराम और 8 घण्टे मनोरंजन' के नारे के तहत 8 घण्टे काम के क़ानूनी अधिकार को छीन लेना है। देश की व्यापक मेहनतकश आबादी का 95 प्रतिशत से अधिक आबादी असंगठित क्षेत्र में काम कर रही है, जहाँ पर मज़दूरों के बिखराव, बदले उत्पादन प्रणाली के अनुरूप यूनियन के अभाव के चलते 8 घण्टे काम का नियम तथा अन्य श्रम क़ानून पहले भी लागू नहीं होते थे। लेकिन पूँजीपतियों के लिए यह तब भी एक क़ानूनी रुकावट का काम करता था और मज़दूरों के संगठित होने की सूरत में इसे लागू करने का दवाब भी काम करता था। लेकिन अब योगी सरकार ने पूँजीपतियों द्वारा मेहनत की लूट में नाममात्र की रुकावट को भी किनारे लगा दिया है।

यही नहीं, पहले जो ओवरटाइम 8 घण्टे के बाद शुरू होता था वह अब 12 घण्टे के बाद शुरू होगा। यानी मज़दूरों को 8 घण्टे काम के बाद डबल रेट से मिलने वाला ओवरटाइम का भुगतान अब क़ानूनी तौर पर 12 घण्टे के बाद शुरू होगा। जबकि 12 घण्टे के बाद दूसरी शिफ़्ट शुरू होने पर फिर से 12 घण्टे सिंगल रेट से मज़दूरों का ख़ून चूसने की पूँजीपतियों को क़ानूनी आज़ादी होगी। डबल रेट से मिलने वाले काम के घण्टों के भुगतान को क़ानूनी तौर पर सिंगल रेट के घण्टों में ही शामिल कर दिया गया है। इतना ही नहीं, बिना ब्रेक लिए 6 घण्टे के काम के नियम से मज़दूरों की मेहनत को चूसने की निरन्तरता को 4 घण्टे से बढ़ाकर 6 घण्टे कर दी गयी है। योगी सरकार ने "दरियादिली" दिखाते हुए इस नियम में मज़दूरों की "सहमति" लेना जोड़ा है। यह "सहमति" वास्तव में मज़दूरों के बर्बर शोषण को "लोकतान्त्रिक" आड़ देने की कोशिश है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मज़दूरों की "सहमति" किस प्रकार ली जाती है इससे हर मज़दूर भली-भाँति वाक़िफ़ है! सच्चाई यह है कि व्यवहारतः शासक वर्ग ने पूँजीपतियों को 6 घण्टे तक बिना रुके मुनाफ़े की चक्की में मज़दूरों को पेरने की क़ानूनी सहमति दी है। इसी तरह सप्ताह में काम के घण्टे 48 से ज़्यादा न होने देने की फ़ासीवादी योगी सरकार की "ज़िद" वास्तव में मज़दूरों के साथ एक भद्दा मज़ाक के अलावा और कुछ नहीं है क्योंकि नये अधिनियम के तहत एक तरफ़ सप्ताह में 48 घण्टे काम की क़ानूनी सीमा रखी गयी है, वहीं दूसरी तरफ़ ओवरटाइम के घण्टों की सीमा तीन महीने में 75 से बढ़ाकर 144 घण्टे कर दी गयी है।

इस तरह योगी सरकार द्वारा श्रम क़ानूनों में किया गया बदलाव मज़दूरों के ऐतिहासिक तौर पर जीते गये 8 घण्टे काम के अधिकार को छीन लेता है। जबकि वर्तमान तकनीकी प्रगति और श्रम की उत्पादकता में वृद्धि को देखते हुए काम के घण्टों की क़ानूनी सीमा 8 घण्टे से काफ़ी कम होनी चाहिए। इतना ही नहीं 8 घण्टे की तीन शिफ़्ट को 12 घण्टे की दो शिफ़्ट में बदल देने से मज़दूरों की एक तिहाई आबादी बेरोज़गार होकर मज़दूरों की रिज़र्व आर्मी को बढ़ायेगी जो दूरगामी तौर पर मज़दूरों की पूँजीपतियों से मोल-भाव करने की उनकी ताक़त को और घटायेगी। 12 घण्टे की शिफ्ट (जिसमें बिना रुके 6 घण्टे काम करने का नियम शामिल है) मज़दूरों को न केवल शारीरिक तौर बहुत नुक़सान पहुँचायेगी वरन उनकी सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता की सम्भावना को भी सीमित करेगी। महिला मज़दूरों को रात की शिफ़्ट में काम करवाने की अनुमति इसलिए दी गयी है ताकि मालिकों को सस्ता से सस्ता श्रम 24 घण्टे उपलब्ध हो सके। हालाँकि इन नियमों के लागू होने से पहले भी बहुत से कारख़ानों में नियमों को ताक पर रखकर महिलाओं की नाइट शिफ़्ट चल रही थी।

इसी तरह इन संशोधनों/बदलावों के तहत *'ईज़ ऑफ डूइंग बिज़नेस'* यानी पूँजीपतियों द्वारा मज़दूरों के बेरोकटोक शोषण (उनकी ज़िन्दगी को ख़तरे में डालकर) और प्रकृति के अन्धाधुन्ध दोहन को सुगम बनाने के लिए फ़ासीवादी योगी सरकार द्वारा पुराने 10 क़ानूनों के तहत 200 से अधिक अनुपालनों को अपराध की श्रेणी से बाहर किया गया है। ऐसे मामलों में अब जेल की जगह मात्र ज़ुर्माना लगेगा। और जुर्माने की राशि भी बहुत "तर्कसंगत" रखी गयी है। वैसे तो जब ऐसे मामले अपराध की श्रेणी में आते थे तब भी बहुत कम मामलों में ही कोई सज़ा पूँजीपतियों को हो पाती थी लेकिन अब फ़ासीवादी योगी सरकार ने पूँजीपतियों को नाममात्र के क़ानूनी झंझट से भी मुक्त कर दिया है। आख़िर प्रधानमन्त्री मोदी द्वारा काशी में मज़दूरों के "चरण पखारने" का कुछ मतलब तो निकलना चाहिए था न!

इस नये क़ानून के तहत कुछ बदलाव ग़ौरतलब हैं। अग्नि निवारण और आपातकालीन सेवा अधिनियम, 2022 की धारा 13 के तहत बिना वॉरेण्ट के गिरफ़्तारी के प्रावधान को भी प्रशासनिक जुर्माने से बदल दिया गया है। उत्तर प्रदेश से लेकर विभिन्न राज्यों में पूँजीपतियों की मुनाफ़े की होड़जनित 'लापरवाही' (असल में जानबूझकर) के चलते आये-दिन आग लगती है, दुर्घटनाएँ होती रहती हैं और दुर्घटना होने पर समय रहते आपात सुविधायें न होने के चलते मज़दूर मरते रहते हैं। लेकिन उत्तर प्रदेश की फ़ासीवादी सरकार द्वारा लाये गये नये क़ानून के तहत अब यह महज़ मामूली लापरवाही होगी, जिसके तहत अब बस जुर्माना होगा (वो भी क़ानून के मुताबिक़, व्यवहार में शायद कुछ भी नहीं होगा)। औद्योगिक क्षेत्र विकास अधिनियम, 1976 के तहत कागज़ी कार्रवाई में देरी या प्रक्रियात्मक भूल जैसी ग़लतियों के लिए जो आपराधिक सज़ा थी, उसे भी ख़त्म कर दिया गया है और अब सिर्फ़ जुर्माना भरना होगा। पूँजीपतियों को इसी तरह, भूजल (प्रबन्धन और विनियमन) अधिनियम, 2019 की धारा 39 (a) के तहत मिलने वाली सामान्य जेल की सज़ा को सिर्फ़ गम्भीर अपराधों तक सीमित कर दिया गया है, जबकि बाकी उल्लंघनों पर सिर्फ़ जुर्माना लगेगा। वृक्ष संरक्षण अधिनियम, 1976 के तहत छोटे अपराधों, जिनके लिए पहले जेल हो सकती थी, उन्हें भी अब जुर्माने में बदल दिया गया है। मतलब कि पूँजीपतियों का मुनाफ़ा सुनिश्चित होना चाहिए भले ही मज़दूर दुर्घटनाओं में बेमौत मरें और प्रकृति तबाह हो जाये।

वास्तव में, फ़ासिस्टों द्वारा लाये गये इन नये नियमों के तहत न केवल मज़दूरों की मेहनत की लूट को निरपेक्ष तरीक़े से बढ़ा दिया गया है अपितु मज़दूरों को मालिकों की लापरवाही से और प्रकृति के संरक्षण के लिए जो क़ानून थे उनको भी पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए होम कर दिया गया है। फ़ासिस्टों ने संशोधन/बदलाव के ज़रिये मज़दूरों के हित में मौजूद अतिसीमित क़ानूनों की भी बलि चढ़ा दी ताकि पूँजीपतियों का मुनाफ़ा सुनिश्चित हो सके, निवेशकों का "भरोसा" बढ़ सके और उत्तर प्रदेश में "प्रगतिशील" शासन का संकेत मिले। वास्तव में, मुनाफ़े की गिरती औसत दर को किसी भी क़ीमत पर पुरानी दर पर बरक़रार रखने के लिए पूँजीपति वर्ग किसी भी हद तक जाने के लिए तैयार है। अभी कुछ दिनों पहले की ही बात है जब इंफोसिस के डायरेक्टर ने मज़दूरों को हर हफ़्ते 70 घण्टे काम करने और लार्सन एण्ड ट्यूब्रो के चेयरमैन ने 90 घण्टे काम करने की इच्छा ज़ाहिर की थी। पूँजीपति वर्ग ने इसी इच्छा की पूर्ति के लिए फ़ासीवादी ताक़तों को सत्ता तक पहुँचाया था। सत्ता में आने के बाद फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा चार लेबर कोड इसीलिए ही लाये गये हैं ताकि पूँजीपतियों को मज़दूरों की मेहनत को बेरोकटोक लूटने की इच्छा पूरी की जा सके। अब इन चार लेबर कोड को एक प्रक्रिया में पूरे देश में लागू किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश में लागू किये जाने से पहले 1 जुलाई को गुजरात में बहुत मामूली फ़र्क़ के साथ इसी तरह का क़ानून लागू किया गया था।

फ़ासीवादी ताक़तों द्वारा पूँजीपति वर्ग के पक्ष में लाये जा रहे श्रम क़ानून का मज़दूर वर्ग को पुरज़ोर प्रतिरोध करना होगा। अन्यथा मज़दूर वर्ग उन अधिकारों को भी खो देगा जिसे मज़दूरों ने अपनी शहादत देकर हासिल किया था। 'चार लेबर कोड' वास्तव में मज़दूरों को नये सिरे ग़ुलाम बनाने की तैयारी है। मज़दूरों को यह बात समझनी ही होगी कि उनके पास लड़ने के अलावा कोई और विकल्प नहीं है। इन क़ानूनों को वापस करवाने के लिए और सरकार को घुटने टेकने के लिए तभी मजबूर किया जा सकता है जब गाँवों और शहरों की व्यापक मेहनतकश आबादी अपने विशिष्ट पेशों की चौहद्दियों से आगे बढ़कर एकजुट हो और सेक्टरगत व इलाकाई पैमाने अपनी क्रान्तिकारी यूनियनों का निर्माण करे और इनके विरुद्ध एक व्यापक जनांदोलन का निर्माण करें। इतना तो यह फ़ासीवादी सरकार भी समझती है कि मज़दूरों की मेहनत की लूट से ही उनके पूँजीवादी आकाओं के पास पूँजी का अम्बार खड़ा होता है। अब मज़दूरों को क्रान्तिकारी फ़ौलादी एकजुटता से अपनी बारी में यह बात समझानी है कि अतीत में भी फ़ासिस्टों की कब्र मज़दूरों ने खोदी थी और आने वाले दिनों में मज़दूर ही भारत के फ़ासिस्टों की कब्र खोदेंगे।

करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों पर क़हर बरपाने वाले चार लेबर कोड का विरोध करो!

(पेज 1 से आगे)

जानता है कि काग़ज़ पर मौजूद श्रम क़ानून पहले ही इतने लचीले और निष्प्रभावी थे कि आम तौर पर इनका फ़ायदा मज़दूरों को कम, मालिकों को ही ज़्यादा मिलता था। लेकिन फिर भी ये क़ानून पूँजीपतियों के लिए कभी-कभार सरदर्दी का सबब बन जाते थे, ख़ासकर जब मज़दूर इन्हें लागू कराने के लिए संघर्ष छेड़ देते थे। नरेन्द्र मोदी ने सत्ता में आते ही "कारोबार की आसानी" के नाम पर पूँजीपतियों को मज़दूरों की श्रम-शक्ति लूटने की खुली छूट देने का ऐलान कर दिया था। यही कारण है कि वर्षों के वर्ग संघर्ष के बल पर मज़दूरों ने जो भी अधिकार श्रम क़ानूनों के रूप में हासिल किये थे, उसे फ़ासीवादी मोदी सरकार पूरी तरह से छीनने पर अमादा है ताकि मन्दी की मार से पूँजीपतियों के मुनाफ़े में जो भी रोड़ा है उसे हटाकर पूँजीपतियों को मज़दूरों को लूटने की खुली छूट दी जा सके। इसी मक़सद से 44 केन्द्रीय श्रम क़ानूनों को ख़त्म कर चार कोड को लागू किया गया है। कहने के लिए तो श्रम क़ानूनों को तर्कसंगत और सरल बनाने के लिए ऐसा किया जा रहा है। लेकिन इसका एक ही मक़सद है, देशी-विदेशी कम्पनियों के लिए मज़दूरों के श्रम को सस्ती से सस्ती दरों पर और मनमानी शर्तों पर निचोड़ना आसान बनाना।

चार लेबर कोड क्या हैं और मज़दूरों के लिए ख़तरनाक क्यों हैं?

मोदी सरकार द्वारा लागू किये गये चार लेबर कोड हैं : 'मज़दूरी-सम्बन्धी संहिता', 'व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थल स्थिति सम्बन्धी संहिता', 'सामाजिक सुरक्षा व पेशागत सुरक्षा सम्बन्धी संहिता' व 'औद्योगिक सम्बन्ध सम्बन्धी संहिता'। पहली संहिता (कोड) यानी 'मज़दूरी श्रम संहिता' के अनुसार मालिक को मज़दूर को न्यूनतम मज़दूरी देने से बचने के तमाम रास्ते दिये गये हैं। न्यूनतम मज़दूरी के स्थान पर फ़्लोर लेवल मज़दूरी की अवधारणा पेश की गयी है जो कि न्यूनतम मज़दूरी से बहुत कम है। साथ ही, न्यूनतम मज़दूरी को लागू करने के सवाल को भी यह संहिता गोलमोल करती है और इस नियम को कमज़ोर बनाती है। यह 8 घण्टे से ज़्यादा काम करवाने के क़ानूनी रास्ते खोलती है और वह भी ओवरटाइम मज़दूरी के भुगतान के बिना।

दूसरी संहिता यानी 'व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थल स्थिति संहिता' में तो असंगठित मज़दूरों को कोई जगह ही नहीं दी गयी है। केवल 10 से ज़्यादा मज़दूरों को काम पर रखने वाले कारख़ानों पर ही यह लागू होगा, यानी मज़दूरों की बहुत बड़ी आबादी इस क़ानून के दायरे से बाहर होगी। नाम के उलट, इस कोड में मज़दूरों की सुरक्षा के साथ और ज़्यादा खिलवाड़ किया गया है। इसमें सुरक्षा समिति बनाये जाने को सरकार के विवेक पर छोड़ दिया गया है, जो पहले कारख़ाना अधिनियम, 1948 के हिसाब से अनिवार्य था। इस पुराने क़ानून में स्पष्ट किया गया था कि मज़दूर अधिकतम कितने रासायनिक और विषैले माहौल में काम कर सकते हैं, जबकि नये कोड में रासायनिक और विषैले पदार्थों की मात्रा का साफ़-साफ़ ज़िक्र करने के बजाय उसे निर्धारित करने का काम राज्य सरकारों के ऊपर छोड़ दिया गया है। मालिकों की सेवा में सरकार इस हद तक गिर गयी है कि इस कोड के मुताबिक़, अगर कोई ठेकेदार, मज़दूरों के लिए तय किये गये काम के घण्टे, वेतन और अन्य ज़रूरी सुविधाओं की शर्तें नहीं पूरी कर पाता, तो भी उस ठेकेदार को 'कार्य-विशिष्ट' लाइसेंस दिया जा सकता है। हर तरह के उद्योग में अलग-अलग क़िस्म के ख़तरे होते हैं, मगर इस कोड में उन विशिष्टताओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

तीसरी संहिता यानी 'सामाजिक सुरक्षा व पेशागत सुरक्षा संहिता' मज़दूरों को मिलने वाले सभी सामाजिक सुरक्षा लाभों को केन्द्रीय व राज्य सरकारों की अधिसूचनाओं पर निर्भर बना देती है। मतलब कि ईएसआई, पीएफ़, ग्रैच्युटी, पेंशन, मातृत्व लाभ व अन्य सभी लाभ मज़दूरों को बाध्यताकारी तौर पर देना सरकार व मालिकों की ज़िम्मेदारी नहीं होगी, बल्कि यह केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारों द्वारा जारी किये जाने वाले नोटिफ़िकेशनों पर निर्भर करेगा। साथ ही, इन सामाजिक सुरक्षा के प्रावधानों के दायरे को भी बेहद सीमित कर दिया गया है। इन नये प्रावधानों के चलते अब अधिकांश मज़दूर क़ानूनी तौर पर सामाजिक सुरक्षा के दायरे के अन्तर्गत आयेंगे ही नहीं। इसी प्रकार पेशागत सुरक्षा, स्वास्थ्य व कार्यस्थितियों सम्बन्धी संहिताओं ने जोखिम भरे कामों की परिभाषा को ही बदल डाला है और 80 प्रतिशत मज़दूरों को इस क़ानून के लागू होने के दायरे से बाहर कर दिया है। ये संहिताएँ मालिकों को इस बात का मौक़ा देती हैं कि वे अपने मज़दूरों को मानवीय कार्यस्थितियाँ मुहैया न करायें। महिला मज़दूरों को पालनाघर देने की बाध्यता से भी मालिकों को मुक्त कर दिया गया है।

चौथी संहिता यानी 'औद्योगिक सम्बन्ध संहिता' को इसलिए तैयार किया गया है कि मालिकों को बिना किसी नोटिस या जवाबदेही के मज़दूरों को काम से निकालने का रास्ता साफ़ हो जाये। यानी रोज़गार की सुरक्षा के प्रति मालिक की सारी क़ानूनी ज़िम्मेदारी को ख़त्म करने का रास्ता खोल दिया गया है; जब चाहे मज़दूरों को काम पर रखो और जब चाहे उन्हें निकाल बाहर करो! पूँजीपति वर्ग बहुत समय से यह "आज़ादी" माँग रहा था। यह संहिता लागू होने का मतलब यह होगा कि किसी भी मज़दूर के लिए स्थायी नौकरी का सपना देखना भी असम्भव हो जायेगा। साथ ही जिन कारख़ानों में 300 तक मज़दूर हैं, उन्हें 'लेऑफ़' या छँटनी करने के लिए सरकार की इजाज़त लेने की अब ज़रूरत नहीं होगी (पहले यह संख्या 100 थी)। मैनेजमेंट को 60 दिन का नोटिस दिये बिना मज़दूर हड़ताल पर नहीं जा सकते। अगर किसी औद्योगिक न्यायाधिकरण में उनके मामले की सुनवाई हो रही है, तो फ़ैसला आने तक मज़दूर हड़ताल नहीं कर सकते। इन बदलावों का सीधा मतलब है कि कारख़ानों में हड़ताल लगभग असम्भव हो जायेगी क्योंकि अगर 300 मज़दूरों से कम हैं (जो काग़ज़ पर दिखाना बिल्कुल आसान है), तो कम्पनी हड़ताल के नोटिस की 60 दिनों की अवधि में आसानी से छँटनी करके नये लोगों की भरती कर सकती है।

इसके अलावा इस संहिता के अन्तर्गत अब कम्पनियों को मज़दूरों को किसी भी अवधि के लिए ठेके पर नियुक्त करने का अधिकार मिल गया है। इसे 'फ़िक्स्ड टर्म एम्प्लॉयमेण्ट' का नाम दिया गया है। मतलब साफ़ है कि अब ठेका प्रथा को पूरी तरह से क़ानूनी जामा पहना दिया गया है, यानी कि अब पूँजीपति मज़दूरों को क़ानूनी तरीक़े से 3 महीने, 6 महीने या साल भर के लिए ठेके पर रख सकता है और फिर उसके बाद उन्हें काम से बाहर निकाल सकता है। इसके अलावा, लेबर कोर्ट समाप्त हो जायेंगे और उसकी जगह औद्योगिक ट्रिब्यूनल होंगे और उनके निर्णयों को पलट देने या न मानने की अच्छी-ख़ासी शक्ति सरकार को दी गयी है। 'औद्योगिक सम्बन्ध संहिता' मालिक और मज़दूर के बीच रोज़गार के क़रार सम्बन्धी नियमों, यूनियन बनाने सम्बन्धी नियमों व विवादों के निपटारे सम्बन्धी नियमों को इस रूप में बदल रहा है कि भारत के मरे-गिरे श्रम क़ानूनों में जो थोड़ा-बहुत मज़दूरों को हासिल होता था, अब वह भी हासिल नहीं रह जायेगा।

कुल मिलाकर कहें, तो इन श्रम संहिताओं के लागू होने के बाद मज़दूर वर्ग को ग़ुलामी जैसे हालात में काम करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। 90 फ़ीसदी अनौपचारिक मज़दूरों के जीवन व काम के हालात अब और नारकीय हो जायेंगे। पुराने श्रम क़ानून लागू नहीं किये जाते थे, लेकिन कहीं पर अनौपचारिक व औपचारिक, संगठित व असंगठित दोनों ही प्रकार के मज़दूर, जब संगठित होते थे, तो वे लेबर कोर्ट का रुख़ करते थे और कुछ मसलों में आन्दोलन की शक्ति के आधार पर क़ानूनी लड़ाई जीत भी लेते थे। लेकिन अब वे क़ानून ही समाप्त हो चुके हैं और नयी श्रम संहिताओं में वे अधिकार मज़दूरों को हासिल ही नहीं हैं, जो पहले औपचारिक तौर पर हासिल थे। इन चार श्रम संहिताओं का अर्थ है मालिकों और कारपोरेट घरानों, यानी कि समूचे पूँजीपति वर्ग, को जीवनयापन योग्य मज़दूरी, सामाजिक सुरक्षा और गरिमामय कार्यस्थितियाँ दिये बग़ैर ही मज़दूरों का भयंकर शोषण करने की क़ानूनी इजाज़त और मौक़ा देना। यह हम मज़दूरों से मानवीयता की बाक़ी शर्तों को भी छीन लेगा और हमें पाशविकता की ओर धकेल देगा।

तो अब इन हालात में किया क्या जाये? सबसे पहले तो यह सच्चाई समझनी होगी कि पूँजीवादी और संसदमार्गी वामपन्थी दलों से जुड़ी यूनियनें मज़दूरों के अतिसीमित आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त के लिए भी सड़क पर उतरने की हिम्मत और ताक़त दुअन्नी-चवन्नी की सौदेबाज़ी करते-करते खो चुकी हैं। यह तो पिछले लम्बे अरसे में इनके व्यवहार से साबित हो चुका है। पहले इन केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों को महज़ इस बात पर आपत्ति थी कि इनसे विचार-विमर्श किये बगैर मोदी सरकार इन श्रम संहिताओं को लेकर आ गयी! लेकिन अब तो ये श्रम संहिताएँ लागू होने जा रही हैं। कम से कम अब तो इन्हें देशव्यापी आम अनिश्चितकालीन हड़ताल का आह्वान कर देना चाहिए। क्योंकि मज़दूर वर्ग के लिए अब स्थिति इससे अधिक बदतर हो ही नहीं सकती है। यह दीगर बात है कि देश की कुल मज़दूर आबादी में 90 फ़ीसदी से अधिक जो असंगठित मज़दूर हैं, उनमें इनकी मौजूदगी बस दिखावे भर की ही है। संगठित क्षेत्र जैसे रेलवे, बैंक, बीमा, डाक और अन्य पब्लिक सैक्टर के मज़दूरों-कर्मचारियों के बीच जहाँ इन यूनियनों का वास्तविक आधार बचा हुआ है वहाँ भी लगातार नवउदारवाद की मार अब मज़दूर वर्ग के इस हिस्से पर पड़ रही है जिसके चलते पक्की नौकरियों को लगातार ख़त्म किया जा रहा है। वास्तविकता यह है कि ये केन्द्रीय यूनियनें इनकी माँगों को लेकर भी प्रभावी विरोध दर्ज करा पाने में अक्षम होती जा रही हैं।

आज संगठित क्षेत्र के मज़दूरों-कर्मचारियों को अपने नेतृत्व पर दबाव बनाना चाहिए कि वे ऐसी आम हड़ताल का तत्काल आह्वान करें और यह हड़ताल तभी समाप्त की जानी चाहिए जब ये नये लेबर कोड वापस लिये जायें। इन तमाम केन्द्रीय यूनियनों के पास यह मौक़ा और ताक़त दोनों ही हैं कि वे तत्काल आम अनिश्चितकालीन हड़ताल का आह्वान करें जिसमें अन्य यूनियनें भी साथ आ सकती हैं और मोदी सरकार को इन श्रम संहिताओं को वापस लेने के लिए मजबूर कर सकती हैं। अगर ये यूनियनें ऐसा करती हैं तो सभी वास्तव में क्रान्तिकारी यूनियनों को भी इसमें साथ देना चाहिए और हड़ताल में भागीदारी करनी चाहिए। लेकिन फ़िलहाल तो ये यूनियनें ऐसा करते हुए नज़र नहीं आ रही हैं। इसलिए इन यूनियनों में संगठित मज़दूरों-कर्मचारियों को तत्काल नीचे से अपने-अपने यूनियन नेतृत्व पर दबाव बनाना चाहिए। यदि वे तब भी अनिश्चितकालीन हड़ताल के रास्ते को नहीं अपनाती हैं तो ये स्पष्ट हो जायेगा कि इनकी वास्तविक मंशा क्या है और इनका सारा विरोध नौटंकी से ज़्यादा कुछ नहीं। बहरहाल, नक़ली कम्युनिस्ट पार्टियों और अन्य पूँजीवादी पार्टियों से जुड़ी ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व से हमें कोई ज़्यादा उम्मीद नहीं रखनी चाहिए और महज़ उनके भरोसे बैठे भी नहीं रहना चाहिए।

तो फिर रास्ता क्या है? क्या मज़दूर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और इस ग़ुलामी को स्वीकार कर लें? नहीं! हमें अभी से संगठित होना होगा और आने वाली लम्बी लड़ाई के लिए एक नयी क्रान्तिकारी शुरुआत करनी होगी। हमें अपनी ताक़त पर भरोसा करना होगा और इस बात को भी समझना होगा कि ये हालात हमें एक मौक़ा दे रहे हैं कि हम अपनी स्वतन्त्र क्रान्तिकारी यूनियनों का निर्माण करें। जहाँ कहीं भी ऐसी यूनियनें हैं, उन्हें तत्काल इसके ख़िलाफ़ देशव्यापी अभियान शुरू करना चाहिए और मज़दूरों की संगठित व असंगठित आबादी को इन श्रम संहिताओं की असलियत से वाकिफ कराना चाहिए। इसी प्रक्रिया में एक आम अनिश्चितकालीन हड़ताल की तैयारी अभी से शुरू कर देनी चाहिए। यह रास्ता लम्बा ज़रूर है लेकिन यही एकमात्र रास्ता है। आज लाखों-करोड़ों मज़दूरों की व्यापक आबादी को संगठित और गोलबन्द किये बग़ैर यानी मज़दूर वर्ग की फौलादी एकजुटता कायम किये बग़ैर फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा उठाये गये इन मज़दूर-विरोधी क़दमों को वापस लेने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता है। अगर हम इन श्रम संहिताओं के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए एकजुट नहीं होते, अगर हम अपनी क्रान्तिकारी यूनियनों के निर्माण के कार्यभार को तत्काल हाथ में नहीं लेते और अगर हम जुझारू और समझौताविहीन संघर्ष का रास्ता अपनाकर मोदी सरकार को इन श्रम संहिताओं को वापस लेने के लिए बाध्य करने के वास्ते एक लम्बी लड़ाई की आज ही शुरुआत नहीं करते हैं, तो कल बहुत देर हो जायेगी।

महान अक्टूबर क्रान्ति (7 नवम्बर) की 108वीं जयन्ती के अवसर पर

सोवियत संघ में समाजवाद की युगान्तरकारी उपलब्धियाँ

● शशि प्रकाश

आज की दुनिया पुनरुत्थान और विपर्यय के जिस घुटन भरे अँधेरे में जी रही है, वह एक ऐतिहासिक स्मृति-लोप का समय है। बुर्जुआ संचार और प्रचार का दैत्याकार वैश्विक तंत्र हमें लगातार यह बताता रहता है कि हमारे "उत्तर-आधुनिक समय" में क्रान्तियों के महाख्यान विसर्जित हो चुके हैं, कि आधुनिकता, तर्कणा और मुक्ति की सारी परियोजनाएँ यूटोपिया सिद्ध हुई हैं, कि समाजवाद भी फ़ासीवाद व अन्य बुर्जुआ निरंकुश तंत्रों जैसा ही सर्वसत्तावादी था... वगैरह-वगैरह। सोवियत संघ में 1956 से 1990 तक समाजवाद के नाम पर संशोधनवादी पार्टी के नेतृत्व में जो भ्रष्ट और निरंकुश बुर्जुआ सत्ता क़ायम थी (1976 के बाद चीन में भी "बाज़ार समाजवाद" के नाम पर वैसी ही सत्ता क़ायम है), उस 'सोशल फ़ासिस्ट' सत्ता के सभी कुकर्मों को समाजवाद के मत्थे थोपकर उसे बदनाम किया जाता है। जिन स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने प्रगति और न्यायपूर्ण समाज-निर्माण के अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किये तथा अपने दो करोड़ 70 लाख नागरिकों की कुर्बानी देकर पूरी दुनिया को फ़ासिज़्म के कहर से बचाया, उन्हें सबसे अधिक कुत्सा-प्रचार का निशाना बनाया जाता है। 1920 से लेकर 1940 के दशक तक एच.जी. वेल्स, रोम्यां रोलां, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जवाहरलाल नेहरू आदि दर्जनों शीर्ष बुद्धिजीवियों, लेखकों, वैज्ञानिकों और बुर्जुआ राजनेताओं ने सोवियत संघ की प्रगति के बारे में अभिभूत और चमत्कृत होकर जो कुछ भी लिखा था, उसे आज के अधिकांश प्रबुद्ध नागरिक भी नहीं जानते।...

निराशा और विभ्रम के इस दौर में, सबसे पहले तो यह समझना ज़रूरी है कि विश्व इतिहास में अतीत में भी क्रान्तियों के शुरुआती संस्करण पराजित हुए हैं और फिर अगले दौर में उनके नये संस्करणों ने निर्णायक विजय हासिल की है। और फिर, सर्वहारा क्रान्तियाँ मानव इतिहास की सर्वाधिक आमूलगामी क्रान्तियाँ हैं, जो वर्ग समाज की बुनियाद पर—सम्पत्ति सम्बन्धों और निजी स्वामित्व पर चोट करती हैं। ये सिर्फ़ चन्द शताब्दियों की उम्र वाले पूँजीवादी समाज के ख़िलाफ़ ही नहीं बल्कि सहस्राब्दियों लम्बी उम्र वाले सम्पूर्ण वर्ग समाज के ख़िलाफ़ हैं। अत: यदि विश्व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो बीसवीं शताब्दी की प्रारम्भिक सर्वहारा क्रान्तियों की पराजय अप्रत्याशित नहीं है। इतना तय है कि यह पराजय स्थायी नहीं, बल्कि फ़िलहाली है। श्रम और पूँजी के शिविर के बीच विश्व ऐतिहासिक महासमर का पहला चक्र कई चरणों से होते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर 1976 तक जारी रहा।

फिर इस चक्र का समापन श्रम के शिविर की पराजय के रूप में हुआ। अब आने वाला समय इस विश्व-ऐतिहासिक समर के दूसरे चक्र का साक्षी होगा।...

आज एक नयी शुरुआत के लिए समाजवादी संक्रमण की समस्याओं और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों को समझना सबसे ज़रूरी है। लेकिन इसके पहले कुछ तथ्यों और आँकड़ों के ज़रिये हम उस विस्मयकारी प्रगति की एक तस्वीर प्रस्तुत करना चाहेंगे जो अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत समाजवाद ने हासिल की थी।

अक्टूबर क्रान्ति एक ऐसे समय में सम्पन्न हुई जब पहले साम्राज्यवादी युद्ध में उलझाव के चलते रूस की अर्थव्यवस्था जर्जर हो चुकी थी। लोग भयंकर तबाही और बदहाली का जीवन बिता रहे थे। 1918 से 1921 के बीच नवजात सोवियत राज्य को अन्तरराष्ट्रीय तौर पर संगठित सशस्त्र प्रतिक्रान्ति का सामना करने के लिए **"युद्ध कम्युनिज़्म"** की नीतियाँ अपनायी गयीं। इन फौरी और आपातकालीन नीतियों में बड़े पैमाने पर उद्योगों का राष्ट्रीकरण, कृषि उत्पादों की अनिवार्य वसूली और व्यापार का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण शामिल था। ये नीतियाँ सामान्य तौर पर समाजवादी क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर में सर्वहारा सत्ता के आर्थिक कार्यभारों के अनुरूप नहीं थीं, लेकिन युद्ध और तबाही के हालात में इन्हें अपनाने के लिए विवश होना पड़ा था।

बाहरी हमले और प्रतिक्रान्ति की अन्दरूनी कोशिशों को नाकाम कर दिये जाने के बाद भी समाजवादी निर्माण का काम सामान्य तौर पर शुरू करने की परिस्थितियाँ नहीं थीं। विश्वयुद्ध, क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के सात तूफानी वर्षों ने रूसी राष्ट्रीय अर्थतंत्र को पंगु बना दिया था। सोवियत संघ की साम्राज्यवादी घेरेबन्दी अभी भी जारी थी। हालत यह थी कि 1913-21 के बीच पूँजी-निवेश के लगभग ठप्प हो जाने के कारण, 1920 में बड़े उद्योगों का सकल राष्ट्रीय उत्पादन 1913 के स्तर का मात्र 14.4 प्रतिशत था। ...उपभोक्ता सामग्रियों का घोर अभाव था। इन हालात में बोल्शेविकों ने क्रमबद्ध ढंग से पीछे हटने का रास्ता चुना ताकि समाजवाद की दिशा में फिर आगे बढ़ा जा सके। यह **'नयी आर्थिक नीति'** का दौर था जो सर्वहारा राज्यसत्ता द्वारा संगठित और नियंत्रित ढंग से *'राजकीय पूँजीवाद की नीतियों की ओर पीछे हटने का दौर'* था। इस दौरान छोटे-मँझोले निजी उद्योगों और निजी आन्तरिक व्यापार को अस्थायी तौर पर फिर से बहाल किया गया, अनिवार्य कृषि-वसूली की जगह हल्के कराधान की व्यवस्था की गयी, उद्योगों को कुछ खास क्षेत्रों में काफी लाभप्रद छूटें दी गयीं। राष्ट्रीकृत बड़े पैमाने के 'मास मार्केट' उद्योगों को पूँजीवादी आधार पर चलाया जाने लगा, हालाँकि यह व्यवस्था सख्त नियंत्रण के तहत थी। राजकीय उद्योगों के लिए मुनाफे के आधार पर काम करने की व्यवस्था की गयी। कारख़ानों के प्रबन्धकों को मज़दूरी तय करने में स्वायत्तता दी गयी और उन्हें अंशत: मुनाफ़े पर कमीशन के आधार पर वेतन दिया जाता था।...

यूँ तो नयी आर्थिक नीति का दौर 1928 में पहली पंचवर्षीय योजना लागू होने तक चलता रहा लेकिन आर्थिक स्थिति सापेक्षत: सुदृढ़ होते ही "पीछे हटना" पहले ही रोक दिया गया था। 1920 के दशक के मध्य से निजी उद्यम और निजी व्यापार को समाप्त करना शुरू कर दिया गया था और 1932 तक उत्पादन या व्यापार को बाधित किये बिना इन्हें लगभग ख़त्म किया जा चुका था। राजकीय उद्यमों के प्रबन्धन की स्वायत्तता को क्रमश: सीमित किया गया और कदम ब कदम उद्योगों की सभी शाखाओं में समाजवादी नियोजन लागू कर दिया गया।

फिर भी 1920 के दशक के अन्त तक कृषि क्षेत्र पर पूँजीवादी सम्बन्धों की जकड़बन्दी क़ायम थी। कुलकों का अस्तित्व क़ायम था जो सोवियत राज्य की खुली अवज्ञा करते थे, टैक्स अदा करने और अनाज बेचने से इन्कार करते थे, तथा जमाखोरी और कालाबाज़ारी करते थे। दूसरी तरफ लाखों छोटे किसान परिवार आदिम युग के साधनों से जमीन के छोटे-छोटे अलाभप्रद टुकड़ों पर खेती करते थे और नारकीय जीवन बिताते थे। तेज़ गति से विकुलकीकरण और सामूहिकीकरण के पीछे इन लाखों ग़रीब किसानों की कुलकों के प्रति गहरी घृणा और उन्हें बेदखल करने की व्यग्रता की भी एक अहम भूमिका थी। आधुनिक खेती के विकास और गाँवों में समाजवाद के आधार-निर्माण के लिए ग़रीब किसानों की सक्रिय भूमिका के सहारे सामूहिकीकरण का अभियान शुरू किया। कुलकों के तीव्र प्रतिरोधों और विद्रोहों का भी सामना करना पड़ा, लेकिन वे कुचल दिये गये। इस मुहिम में कुलकों को दबाने के दौरान निस्सन्देह कुछ ज़्यादतियाँ भी हुईं और कहीं-कहीं सहकारी फार्मों में शामिल होने के लिए किसानों के साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती भी की गयी। स्तालिन ने विध्वंसक तत्वों के साथ सख़्ती बरतने के साथ ही, इन ग़लतियों की आलोचना की और मध्यम किसानों को अपने पक्ष में करने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया। फलत: किसानों के बीच राजनीतिक कार्य और पार्टी उपकरण मज़बूत करने पर विशेष ज़ोर दिया गया। पुराने बोल्शेविकों में से चुने गये 17,000 पार्टी सदस्यों को मशीन ट्रैक्टर स्टेशनों में राजनीतिक विभाग स्थापित करने के लिए देहाती इलाक़ों में भेजा गया। ये मशीन ट्रैक्टर स्टेशन समाजवादी निर्माण के महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में सामूहिक फार्मों के लिए काम कर रहे थे। इस प्रक्रिया में गाँवों में पार्टी उपकरण मज़बूत हुए और पार्टी की ग्रामीण सदस्यता 1930 से 1934 के बीच चार लाख से बढ़कर आठ लाख हो गयी।

1934 के अन्त तक 75 प्रतिशत किसान परिवार और 90 प्रतिशत खेती लायक़ ज़मीन 2,40,000 सामूहिक फार्मों के दायरे में आ चुकी थी। जो खेती-बाड़ी अभी हाल तक मशीनीकरण से एकदम अछूती थी, उसमें 1934 के अन्त तक 2,81,000 ट्रैक्टर और 32,000 हार्वेस्टर कम्बाइन काम कर रहे थे। इस मशीनीकरण की बदौलत गाँवों से बड़े पैमाने पर श्रम शक्ति खाली हुई जो तेज़ी से बढ़ते उद्योगों के लिए ज़रूरी थी। चौथे दशक के मध्य तक सोवियत सत्ता इस स्थिति में पहुँच गयी थी कि रोटी और अधिकांश बुनियादी ज़रूरत की चीज़ों की राशनिंग समाप्त कर दी गयी।

पूरे देश के लिए केन्द्रीकृत रूप से एक आर्थिक योजना तैयार करने के लिए राजकीय योजना आयोग (गॉस्प्लान) की स्थापना तो 1921 में ही हो चुकी थी लेकिन पहली पंचवर्षीय योजना 1928 में ही जाकर बनायी जा सकी। पहली पंचवर्षीय योजना इतिहास में केन्द्रीकृत नियोजन का पहला प्रयास थी। यह आर्थिक निर्माण का पहला ऐसा समाजवादी क़दम था, जब योजना की प्राथमिकताएँ व्यापक जन समुदाय के हितों के मुताबिक, और तात्कालिक भौतिक फ़ायदों के लिए नहीं, बल्कि एक समाजवादी समाज की अग्रवर्ती प्रगति के लिए आवश्यक भौतिक आधार के निर्माण को केन्द्र में रखकर तय की गयी थीं। बड़े समाजवादी उपक्रमों के रूप में आधारभूत और अवरचनागत उद्योगों की स्थापना को समाजवाद के लिए अपरिहार्य मानते हुए स्तालिन भी लेनिन की ही लाइन पर सोच रहे थे।...

व्यापक जन-पहलकदमी और उत्साह के निर्बन्ध होने के चलते पहली पंचवर्षीय योजना निर्धारित समय से 9 माह पहले ही पूरी हो गयी। तकनीशियनों की भारी कमी के बावजूद, इस अवधि के दौरान ट्रैक्टर, ऑटोमोबाइल, जहाज़, रसायन, कृषि मशीनरी, मशीन टूल्स, इंजीनियरिंग, युद्धक सामग्री आदि के उत्पादन के विशालकाय औद्योगिक ढाँचे एकदम शून्य से शुरू करके खड़े किये गये। लौह खनिज और पेट्रोलियम उत्पादन तेज़ी से बढ़ा। जिस रफ़्तार से इस्पात कारख़ाने लगे और लगभग पूरे देश का विद्युतीकरण हुआ, उस पर पश्चिमी दुनिया दंग थी और बुर्जुआ मीडिया भी इन "चमत्कारों" की चर्चा करने लगा। पूरे देश की जनता का, विशेषकर भारी उद्योगों के मज़दूरों का जीवन-स्तर तेज़ी से ऊपर उठा। मज़दूरी में 103.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जिस समय पूँजीवादी विश्व पर महामन्दी का कहर बरपा हो रहा था और अमेरिका में 1.15 करोड़, जर्मनी में 56 लाख और ब्रिटेन में 23 लाख बेरोजगार थे, उस समय, यानी 1932 तक सोवियत संघ में बेरोजगारी का पूर्ण उन्मूलन हो चुका था। नवम्बर, 1932 में अमेरिका की उदारवादी पत्रिका **'नेशन'** ने लिखा था : *"पंचवर्षीय योजना के चार वर्षों में वाक़ई असाधारण विकास हुआ है।... रूस नये जीवन के भौतिक और सामाजिक साँचों के निर्माण के रचनात्मक कार्यभार को पूरा करने में युद्धस्तर की तेज़ी के साथ जुटा हुआ है। देश का नक्शा वाकई इतना ज़्यादा बदला जा रहा है कि इसे पहचानना मुश्किल होगा।"*

दूसरी पंचवर्षीय योजना भी अपने समय से 9 माह पहले पूरी हो गयी। **मॉरिस डॉब** (*'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिन्स 1917'*) के अनुसार, इस योजना का लक्ष्य पूरी अर्थव्यवस्था का तकनीकी पुनर्गठन था। योजना के अन्त तक देश के कुल औद्योगिक उत्पादन का 4/5 हिस्सा "पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान निर्मित या पूर्णत: पुनर्गठित नये उद्योगों" द्वारा होना था। इसके लिए नये उद्योग लगाना, नयी तकनीक में महारत, श्रम-उत्पादकता में भारी वृद्धि, उत्पादन-लागत में कमी लाना और उत्पाद के स्तर को ऊपर उठाना ज़रूरी था। इस

(पेज 8 पर जारी)

सोवियत संघ में समाजवाद की युगान्तरकारी उपलब्धियाँ

(पेज 7 से आगे)

लक्ष्यसिद्धि में योजना पूर्णत: सफल रही। औद्योगिक उत्पादन 1932 की तुलना में 100 प्रतिशत और 1913 की तुलना में 500 प्रतिशत बढ़ गया। योजना के अन्त तक 4500 नये औद्योगिक उपक्रम स्थापित हुए जो कुल औद्योगिक उत्पादन का 80 प्रतिशत पैदा कर रहे थे। बिजली उत्पादन 2600 करोड़ किलोवाट हो गया जो 1932 की तुलना में दोगुना और 1913 की तुलना में तेरह गुना था। सभी अवरचनागत उद्योगों ने ऐसी ही प्रचण्ड वृद्धि दर्ज की।

नयी आर्थिक नीति की समाप्ति के समय दुनिया के औद्योगिक देशों में रूस पाँचवें स्थान पर था, लेकिन दूसरी पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर यह दूसरे स्थान पर आ चुका था। 1928 में नयी आर्थिक नीति की समाप्ति पर विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन में अमेरिका का हिस्सा 46.9%, जर्मनी 11.9%, ब्रिटेन का 8.46%, फ्रांस का 7.84% और सोवियत यूनियन का 4.42% हिस्सा था। लेकिन 1937 में दूसरी पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक यह स्थिति बदल चुकी थी। अब पर विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन में अमेरिका का हिस्सा 38.16%, सोवियत यूनियन का 14.99%, जर्मनी का 10.33%, ब्रिटेन का 8.16% और फ्रांस का 5.25% हिस्सा हो गया था। सोवियत संघ के औद्योगिक विकास की दर समूचे आधुनिक इतिहास में अतुलनीय थी।

ब्रिटिश आर्थिक इतिहासकार **ऐंगस मैडिसन** के अनुसार, सोवियत संघ में 1913 से 1965 के बीच प्रति व्यक्ति आर्थिक वृद्धि की दर दुनिया के सभी विकसित देशों से भी ऊपर थी। इस दौरान सोवियत संघ की आर्थिक वृद्धि दर 440 प्रतिशत थी। उसके ठीक नीचे जापान (400 प्रतिशत) था। ब्रिटिश मार्क्सवादी अर्थशास्त्री **मॉरिस डॉब** के अनुसार, *"उद्योगों की परिमाणात्मक वृद्धि को संक्षेप में इन सूचकों के ज़रिये जाना जा सकता है – 1928-38 के दशक के दौरान लोहा और इस्पात उद्योग की उत्पादक क्षमता चार गुना, कोयले की साढ़े तीन गुना, तेल की भी तीन गुना और बिजली की लगभग सात गुना बढ़ गयी थी, जबकि इसी दौरान नये उद्योगों की एक पूरी कतार स्थापित की जा चुकी थी जिसमें वायुयान, प्लास्टिक और कृत्रिम रबर सहित विविध भारी रसायन, एल्यूमीनियम, ताँबा, निकिल और टिन आदि शामिल हैं। सोवियत संघ दुनिया में ट्रैक्टरों और रेल इंजनों का सबसे बड़ा उत्पादक तथा तेल, सोना और फॉस्फेट का दूसरे नम्बर का सबसे बड़ा उत्पादक बन गया था"* ...

सोवियत सत्ता ने गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद से ही विज्ञान-तकनोलॉजी के विकास पर विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया। पहली पंचवर्षीय योजना के समय से नाभिकीय भौतिकी, क्वाण्टम भौतिकी, अन्तरिक्ष भौतिकी, रसायन, जैव-रसायन, प्राणि विज्ञान, भूगर्भ शास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में तथा इंजीनियरिंग की सभी शाखाओं में योजनाबद्ध शोध-अध्ययन की शुरुआत हुई... 1930 के दशक के मध्य तक, ब्रिटिश वैज्ञानिक **जे.डी. बर्नाल** के आकलन के अनुसार, सोवियत संघ अपनी राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत विज्ञान-तकनोलॉजी पर खर्च कर रहा था जो अमेरिका के मुकाबले 3 गुना और ब्रिटेन के मुकाबले 10 गुना था। इस वैज्ञानिक प्रगति का आधार तैयार करने के लिए सोवियत सत्ता विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए कई-कई संस्थाओं के ज़रिये समाज के तृणमूल स्तर पर काम करती थी। साथ ही, उच्च शिक्षा का एक व्यापक ताना-बाना खड़ा किया गया था। 1917 में रूस में मात्र 91 विश्वविद्यालय और कॉलेज तथा 289 शोध संस्थान थे जिनमें 4,340 वैज्ञानिक कार्यरत थे। 1941 में सोवियत संघ में 700 विश्वविद्यालय व कालेज तथा 908 शोध संस्थान थे जिनमें 26,246 वैज्ञानिक कार्यरत थे।

1941 तक गणित, क्वाण्टम भौतिकी, नाभिकीय भौतिकी, क्रिस्टल भौतिकी, भूगर्भ शास्त्र, भू-विज्ञान, भौतिक रसायन, प्लाण्ट-ब्रीडिंग और एयरोडायनॉमिक्स जैसे क्षेत्रों में सोवियत संघ में कई 'पाथ ब्रेकिंग' शोध हो चुके थे और यह सिलसिला आगे भी जारी रहा। सोवियत नाभिकीय कार्यक्रम और अन्तरिक्ष कार्यक्रम की नींव भी इसी समय पड़ चुकी थी।...

"साक्षरता कम्युनिज़्म का रास्ता तैयार करती है" – 1920 के दशक के एक पोस्टर की इबारत को बोल्शेविकों ने इस तरह व्यवहार में उतारा कि गृहयुद्ध (1918-21) के दौरान भी निरक्षरता-विरोधी अभियान चलता रहा और दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान मज़दूरों के लिए फैक्ट्रियों, खदानों और रेलवे लाइन के किनारे विशेष स्कूल स्थापित किये गये। 1927 से 1940 के बीच पाँच करोड़ प्रौढ़ लोगों ने पढ़ना-लिखना सीखा। 1914-15 में सभी शिक्षा संस्थानों में छात्रों की कुल संख्या 99 लाख थी। 1956-57 तक यह बढ़कर 3 करोड़ 55 लाख हो चुकी थी। समाजवाद की राजनीतिक प्राथमिकताओं के अनुरूप प्राथमिक शिक्षा और काम के साथ शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया गया। 1897 में पुरुषों में साक्षरता 39.1% और स्त्रियों में 13.7% तथा दोनों को मिलाकर 26.3% थी। क्रान्ति के बाद के 9 वर्षों में यह छलाँग लगाकर 1926 में पुरुषों में 71.5% और स्त्रियों में 42.7& (दोनों मिलाकर 56.6%) हो गयी। 1959 में यह आँकड़ा पुरुषों में 99.3% और स्त्रियों में 97.8% (दोनों मिलाकर 98.5%) हो गया।

अब हम स्वास्थ्य सेवाओं पर एक दृष्टि डालें। क्रान्ति के तुरन्त बाद सोवियत सत्ता ने सभी नागरिकों के लिए मुफ़्त चिकित्सा सेवा की व्यवस्था लागू की। इस मामले में सरकार की प्रतिबद्धता इतनी कठोर थी कि गृहयुद्ध के वर्षों में भी इसके लिए बुनियादी ढाँचा खड़ा करने का काम जारी रहा और 1920 के दशक से तो यह तूफ़ानी गति से आगे बढ़ा। 1960 में एक बुर्जुआ जन-स्वास्थ्य विशेषज्ञ **मार्क जी. फ़ील्ड** ने सोवियत जन-स्वास्थ्य प्रणाली के बारे में लिखा था : *"किसी भी अन्य गतिविधि की तरह स्वास्थ्य-रक्षा भी नियोजित होनी चाहिए, इसमें समानता होनी चाहिए, स्वास्थ्य रक्षा राज्य द्वारा वित्त पोषित एक मुफ़्त सामाजिक सेवा है, जनता का स्वास्थ्य सरकार की ज़िम्मेदारी है, और इसमें व्यापकतम जन-भागीदारी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए, सिद्धान्त और व्यवहार की एकता होनी चाहिए... सोवियत शासन ने पिछले चार दशकों के दौरान जन-सेवा के तौर पर प्रदान की जाने वाली चिकित्सीय उपचार और निरोधक चिकित्सा की एक व्यवस्था क़ायम की है जिसका विस्तार इस क्षेत्र में राष्ट्रीय पैमाने पर किये गये किसी भी प्रयास से अधिक व्यापक है" (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रशिया ऐण्ड सोवियत यूनियन', सम्पादक, एम.टी. फ्लोरिंस्की, न्यूयार्क)*

स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में हुई चतुर्दिक क्रान्ति को कुछ आँकड़ों के ज़रिये समझा जा सकता है। अस्पतालों में शैयाओं की संख्या 1913 में 20,700 थी जो छह गुना बढ़कर 1956 में 1,36,000 हो गयी। 1913 में प्रति दस हजार आबादी पर 13 शैयाएँ थी जो 1956 में बढ़कर 68 हो गयीं। डॉक्टरों की संख्या 1913 में 23,000, 1940 में 1,42,000 और 1958 में 3,62,000 थी। यानी इस अवधि में 15 गुना बढ़ोत्तरी हुई। 1958 में प्रति दस हज़ार निवासियों पर डॉक्टरों की संख्या ब्रिटेन में 8.8, अमेरिका में 12 और सोवियत संघ में 17 थी। यह बड़ी संख्या में स्त्रियों के प्रशिक्षण के कारण सम्भव हो सका। क्रान्ति के पहले डॉक्टरों में 10 प्रतिशत स्त्रियाँ थीं। 1940 तक वे 60 प्रतिशत और 1958 तक 75 प्रतिशत हो चुकी थीं। दूसरे विश्वयुद्ध के पहले ही सोवियत संघ से यौन रोगों, कुपोषण और अस्वास्थ्यकर परिस्थिति-जनित रोगों तथा अधिकांश संक्रामक बीमारियों का लगभग ख़ात्मा हो चुका था।

ज़ाहिर है कि समाजवाद का लक्ष्य सिर्फ़ भौतिक प्रगति के नये शिखरों तक पहुँचना नहीं था, बल्कि न्याय, समानता और पूरी आबादी की (भौतिक मुक्ति के साथ ही) आत्मिक मुक्ति के साथ-साथ भौतिक प्रगति हासिल करना था। इसके लिए ज़रूरी था कि निजी स्वामित्व की व्यवस्था के साथ ही वह उसके एक प्रमुखतम स्तम्भ पर, यानी पितृसत्तात्मक पारिवारिक ढाँचे पर भी चोट करे, चूल्हे-चौखट की दमघोंटू नीरस दासता से स्त्रियों को मुक्त करे, उन्हें पुरुषों के साथ वास्तविक बराबरी का दर्जा देते हुए सामाजिक उत्पादक गतिविधियों और राजनीतिक-सामाजिक दायरों में भागीदारी का भौतिक-वैचारिक आधार तैयार करे तथा इसके लिए पुरुष वर्चस्ववादी मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं की जड़ों पर कुठाराघात करे।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद स्त्रियों की मुक्ति की जिस लम्बी यात्रा की शुरुआत हुई, उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण भौतिक पक्ष था सामाजिक श्रम में उनकी बढ़ती हुई भागीदारी। 1914 में कारख़ानों में लगी कुल श्रम शक्ति का मात्र 25 प्रतिशत स्त्रियाँ थीं। 1929 में यह संख्या बढ़कर 28 प्रतिशत, 1940 में 41 प्रतिशत और 1950 में 45 प्रतिशत हो गयी। इस उपलब्धि को इस तथ्य की रोशनी में देखा जाना चाहिए कि केवल 1913 से 1937 के बीच उद्योगों में आठ गुना वृद्धि हुई थी और इसके साथ ही, ज़ाहिरा तौर पर कुल औद्योगिक श्रम-शक्ति भी बढ़ गयी थी। संचार सेवाओं, जन भोजनालयों, जन स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों का अनुपात विशेष रूप से अधिक था, लेकिन धातुकर्म, मशीन निर्माण, खदान और निर्माण उद्योगों में उनका प्रतिशत अनुपात लगातार बढ़ती भागीदारी के बावजूद पुरुषों से कम था। लेकिन जब तक सोवियत संघ में समाजवाद क़ायम था, यह स्थिति लगातार तेज़ी से बदलती जा रही थी। 1957 में उद्योगों में कार्यरत कुल तकनीशियनों में 59 प्रतिशत स्त्रियाँ थीं।

सोवियत क्रान्ति ने स्त्रियों को जब मताधिकार दिया, उस समय दुनिया के उन्नत बुर्जुआ जनवादी देशों की स्त्रियों को भी यह हक़ हासिल नहीं था। ब्रिटेन की स्त्रियों को यह हक 1928 में जाकर हासिल हुआ। क्रान्ति के ठीक एक माह बाद सिविल मैरिज की व्यवस्था और तलाक को सुगम बनाने के लिए दो आज्ञप्तियाँ जारी की गयीं। फिर अक्टूबर, 1918 में विवाह, परिवार और बच्चों के अभिभावकत्व जैसे सभी पक्षों को समेटते हुए एक ऐतिहासिक **'मैरिज कोड'** की अभिपुष्टि की गयी। इस कोड ने जेण्डर समानता और व्यक्तिगत अधिकारों के नये सिद्धान्त के रूप में पहली बार स्त्रियों को वे अधिकार दिये जो दुनिया का कोई भी बुर्जुआ जनवादी देश आज तक नहीं दे पाया है।

विवाह, सहजीवन और तलाक के मामलों में राज्य, समाज और धर्म के हस्तक्षेप को पूरी तरह समाप्त कर दिया। यौन-सम्बन्धों के मामले में भी राज्य और समाज का कोई हस्तक्षेप नहीं था, जब तक कि किसी को चोट पहुँचाने, ज़ोर-जबर्दस्ती या धोखा देने जैसा कोई मामला न हो। समलैंगिकता और रज़ामन्दी से किये जाने वाले यौन-क्रियाकलापों के विरुद्ध पहले के सभी क़ानूनों को समाप्त कर दिया गया। इसी तरह वेश्यावृत्ति को अपराध मानने वाले क़ानूनों को भी इस कम्युनिस्ट सोच के तहत रद्द कर दिया गया कि स्त्री को समान अधिकार और स्वतंत्र सामाजिक-आर्थिक हैसियत देने के बाद वर्ग समाज की इस प्राचीनतम बुराई का भी समूल नाश हो जायेगा। आने वाले वर्षों ने इस सोच को सही साबित किया। 1930 के दशक के मध्य तक सोवियत संघ से वेश्यावृत्ति, यौन रोगों और यौन अपराधों का पूरी तरह से ख़ात्मा हो चुका था।

क्रान्ति-पश्चात् काल में, यानी साम्राज्यवादी हमले, घेरेबन्दी और गृहयुद्ध के पूरे दौर में स्त्री बोल्शेविकों ने युद्ध, उत्पादन, शिक्षा और स्वास्थ्य के मोर्चों पर अहम भूमिका निभाने के साथ-साथ सुदूर रूसी गाँवों और इस्लामी धार्मिक रूढ़ियों में जकड़े पूरब के सोवियत गणराज्यों तक पहुँचकर तमाम ख़तरों और कठिनाइयों का सामना करते हुए स्त्रियों के बीच शिक्षा एवं प्रचार का काम किया। 1920 तक अगर रूढ़ियों-वर्जनाओं की सभी बेड़ियों को तोड़ते हुए 80,000 से भी अधिक स्त्रियाँ लाल सेना में भरती हो गयीं, तो इसमें स्त्री बोल्शेविकों के श्रमसाध्य प्रयासों की भी एक महती भूमिका थी। इन वीरांगनाओं की क़ुर्बानी का अनुमान महज़ इस एक तथ्य से लगाया जा सकता है कि गृहयुद्ध के दौरान और उसके बाद के दो वर्षों के दौरान जब पूरा देश (विशेषकर दक्षिणी और पश्चिमी भाग) अकाल, भुखमरी और बीमारियों से जूझ रहा था तो इस दौरान तेरह प्रतिशत स्त्री बोल्शेविक कार्यकर्ता आम जनता के बीच काम करते हुए कुपोषण और संक्रामक बीमारियों से मौत का शिकार हो गयीं। यही समय था जब देश के दक्षिणी और पश्चिमी इलाक़ों में तीन वर्ष से कम आयु के 90 प्रतिशत बच्चे मौत के ग्रास बन गये। 1922 में देश में अनाथ बच्चों की संख्या 75 लाख थी। सरकार 1918 से 16 वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों के लिए मुफ़्त भोजन और आवास का प्रबन्ध कर रही थी।...

सरकार ने क्रान्ति के तत्काल बाद स्त्री मज़दूरों को सामाजिक-साँस्कृतिक सुविधाएँ और सामुदायिक सेवाएँ देने के साथ-साथ उनके लिए शिक्षा एवं प्रशिक्षण के कार्यक्रमों की शुरुआत कर दी थी। 1918 के **'लेबर कोड'** के अन्तर्गत छोटे बच्चों की माँ स्त्री मज़दूरों को हर तीन घण्टे पर बच्चे को दूध पिलाने के लिए 30 मिनट का अवकाश दिया जाता था जिसे काम के घण्टों में ही गिना जाता था। गर्भवती स्त्रियों और छोटे बच्चों की माँओं को रात की पाली में काम नहीं करना होता था। उनको ओवरटाइम करने से भी छूट थी। 1918 में 'मातृत्व बीमा कार्यक्रम' लागू हुआ, जिसके अन्तर्गत स्त्री मज़दूरों के लिए पूर्णत: सवैतनिक आठ सप्ताह के मातृत्व अवकाश, फैक्ट्री में काम के दौरान बच्चे की देखरेख और आराम के लिए ब्रेक्स की सुविधा, प्रसव-पूर्व और पश्चात डॉक्टरी देखभाल के लिए नि:शुल्क सुविधा और नक़दी भत्तों की व्यवस्था की गयी थी। गृहयुद्ध के कठिन दिनों में ही कार्यस्थलों पर पालनाघरों और नर्सरियों के साथ ही मैटर्निटी क्लीनिकों, परामर्श केन्द्रों, फ़ीडिंग स्टेशनों तथा नवजात केन्द्रों के एक देशव्यापी नेटवर्क के निर्माण का काम शुरू हो गया था।... 1927-28 तक रजोनिवृत्ति के दिनों में स्त्रियों को सवैतनिक छुट्टी दी जाने लगी। सोवियत संघ ऐसा करने वाला दुनिया का पहला देश था।

(पेज 9 पर जारी)

सोवियत संघ में समाजवाद की युगान्तरकारी उपलब्धियाँ

(पेज 8 से आगे)

पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान जब पूरे देश में खेती का सामूहिकीकरण हुआ, सामूहिक फार्मों का तेज़ गति से मशीनीकरण हुआ और ग्राम सोवियतों की व्यवस्था पूरे देश में फैल गयी तो कृषि उत्पादन में भारी वृद्धि के साथ ही गाँवों में स्त्रियों की स्थिति में भी क्रान्तिकारी बदलाव आये। ट्रैक्टर और हार्वेस्टर चलाने के साथ ही स्त्रियाँ सोवियतों के कामकाज में भी बराबरी से हिस्सा लेने लगीं। गाँवों की स्त्रियों में शिक्षा तेज़ी से बढ़ी। कारख़ानों के अतिरिक्त सामुदायिक भोजनालय, पालनाघर, नर्सरी आदि सामूहिक फार्मों में भी खुलने लगे और ग्रामीण स्त्रियाँ भी चूल्हे-चौखट की ग़ुलामी से मुक्त होने लगीं।

स्त्रियों की इस सामाजिक प्रगति को कुछ आँकड़ों के ज़रिये हम आसानी से जान-समझ सकते हैं। 1929 में सोवियत संघ में कुल स्त्री कामगारों की संख्या 30 लाख से कुछ अधिक थी। पाँच वर्षों में यह दोगुनी से भी अधिक बढ़कर 1934 में 70 लाख हो गयी। 1929 में कुल कामगारों में स्त्रियाँ 25 प्रतिशत से कुछ अधिक थीं। 1941 में ये बढ़कर 45 प्रतिशत हो गयीं। 1929 से 1941 के बीच बड़े उद्योगों में स्त्रियों की भागीदारी 30 प्रतिशत से बढ़कर 45 प्रतिशत, परिवहन में 10 प्रतिशत से बढ़कर 38 प्रतिशत, शिक्षा में 55 प्रतिशत से बढ़कर लगभग 72 प्रतिशत और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में 65 प्रतिशत से बढ़कर लगभग 78 प्रतिशत हो गयी। शिशुशालाएँ 1927 में 550 थीं जो 1938 में बढ़कर 7,23,651 हो गयीं। बाल विहारों की संख्या 1927 में 1,07,500 थी जो 1937-38 में बढ़कर 10,56,800 हो गयीं। 1940 में सोवियत सत्ता ने यह निर्देश जारी किया हर नये सामुदायिक आवास परियोजना में 5 प्रतिशत ज़मीन नर्सरी सुविधाओं के लिए आरक्षित रहेगी।

स्त्रियों की मुक्ति ने दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत संघ की विजय में अहम भूमिका निभायी। मुख्यत: उन्हीं की बदौलत युद्ध के कठिन दिनों में उत्पादन जारी रहा। 1941 के ठीक पहले उद्योगों में कुल श्रमशक्ति की 45 प्रतिशत स्त्रियाँ थीं, जो 1942 तक 53 प्रतिशत हो गयीं। 1942 में रेल यातायात में 25 प्रतिशत, शिक्षा में 58 प्रतिशत और चिकित्सा में 83 प्रतिशत श्रमशक्ति स्त्रियों की लगी हुई थी। और सामुदायिक खेती तो मानो उन्हीं के कन्धों पर टिकी थी। युद्ध पूर्व वर्षों के मुक़ाबले युद्धकाल में स्त्री ट्रैक्टर चालकों की संख्या 11 गुना, स्त्री हॉर्वेस्टर ऑपरेटरों की संख्या 7 गुना और मशीन ट्रैक्टर स्टेशनों में कार्यरत स्त्रियों की संख्या 10 गुना बढ़ गयी। उत्पादन के मोर्चे के साथ ही नात्सी-विरोधी छापामार दस्तों में भी युवा स्त्रियों ने बड़े पैमाने पर भागीदारी की। युद्ध में 2 करोड़ 70 लाख लोगों को खोकर और बुरी तरह तबाह होने के बावजूद सोवियत संघ ने अगर फासिज़्म को नेस्तनाबूद कर दिया और अगर युद्ध पश्चात चन्द वर्षों के भीतर तूफ़ानी गति से पुनर्निर्माण करके फिर से उठ खड़ा हुआ तो इसके लिए मुख्यत: तीन चीज़ें ज़िम्मेदार थीं : **पहला**, क्रान्ति द्वारा मुक्त हुए मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनसमुदाय की सामूहिक पहलकदमी और हर क़ीमत पर समाजवाद को बचाने की आकांक्षा, **दूसरा**, क्रान्ति के बाद व्यापक जन-भागीदारी से उत्पादन, विज्ञान और तकनोलॉजी का विकास, और **तीसरा**, समाजवाद द्वारा मुक्त हुई स्त्रियों की अकूत सामूहिक शक्ति और सर्जनात्मकता का निर्बन्ध होना।

स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बावजूद, समाज में तृणमूल स्तर पर समाजवादी संस्थाएँ और मूल्य लम्बे समय तक बने रहे। **ख्रुश्चेव** और **ब्रेझनेव** काल से लेकर 1980 के दशक तक, आर्थिक संकट, राजनीतिक निरंकुश भ्रष्ट तंत्र और सामाजिक-सांस्कृतिक विकृतियों के बावजूद, जनता की पहलक़दमी पर स्थापित सोवियत संस्थाएँ समाज में नीचे के स्तरों तक बनी रहीं तथा स्त्री-उत्पीड़न और स्त्री-पुरुष असमानता केनये रूपों के अस्तित्व में आने के बावजूद, स्त्रियों की वह सामाजिक प्रगति और स्वतंत्रता किसी हद तक सुरक्षित बची रह गयी थी, जो समाजवादी दौर की एक ऐतिहासिक उपलब्धि थी। 1960 और 1970 के दशकों के दौरान विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों की संख्या सोवियत संघ में अमेरिका और फ्रांस से अधिक थी। 1971 में पैरामेडिकल क्षेत्र में कुल कार्यरत आबादी में 98 प्रतिशत, मेडिकल और राजकीय स्कूलों में 75 प्रतिशत और पुस्तकालयों में 90 प्रतिशत स्त्रियाँ थीं। स्त्रियों की जीवन-प्रत्याशा 1927 में 30 से बढ़कर 1974 में 74 हो चुकी थी।

नादेज़्दा क्रुप्सकाया ने एक बार कहा था कि समाजवाद का मतलब केवल विशालकाय कारख़ानों और सामूहिक फार्मों का निर्माण करना नहीं है, बल्कि सर्वोपरि तौर पर एक नये मनुष्य का निर्माण करना है। समाजवाद के चन्द दशकों ने ही इस धारण को मूर्त रूप में ढाल दिया था। गृहयुद्ध, अकाल और भुखमरी के तीन वर्षों के बीतने के साथ ही रूस और सोवियत संघ के सभी गणराज्यों में साँस्कृतिक संस्थाओं और माध्यमों का अभूतपूर्व स्तर पर विस्तार होने लगा। सिर्फ़ राजधानियों और शहरों में ही नहीं, कारख़ानों और सामूहिक फार्मों तक में रंगशालाएँ, सिनेमाघर, पुस्तकालय, सभागार, संगीत-नाटक आदि के प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित होने लगे। आम लोगों को इतने बड़े पैमाने पर नि:शुल्क साँस्कृतिक संसाधन कभी नहीं मुहैया कराये गये थे। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से लेकर फिल्म, संगीत, कला आदि सभी साँस्कृतिक उत्पादन समाजवादी राज्य द्वारा वित्तपोषित होते थे। ज्ञान, कला और संस्कृति तक इस आम पहुँच की बदौलत आम मज़दूरों के बीच से सैकड़ों नहीं बल्कि हजारों-हजार लेखक और कलाकार उभरकर सामने आये।...

●

दुनिया की पहली समाजवादी क्रान्ति की इन युगान्तरकारी, अभूतपूर्व और विस्मयकारी उपलब्धियों की चर्चा के बाद यह यक्ष प्रश्न और विकट होकर हमारे समक्ष खड़ा हो जाता है कि इतनी महान क्रान्ति किन आन्तरिक अन्तरविरोधों के कारण, किन कमज़ोरियों और ग़लतियों के कारण, किन प्रश्नों का उत्तर न ढूँढ़ पाने के कारण, या यूँ कहें कि किन मनोगत और वस्तुगत कारणों से गतिरोध, विघटन और पराजय का शिकार हुई? जिस समाजवादी सत्ता ने गृहयुद्ध और चौदह साम्राज्यवादी देशों के आक्रमण को भी नाकाम कर दिया था, जिसने अकेले ही पूरे यूरोप को बूटों तले रौंद रही हिटलर की फ़ौजों को धूल में मिला दिया था और चन्द वर्षों के भीतर विनाश की राख से फ़ीनिक्स पक्षी की तरह उठकर फिर से उन्नति के नये सोपानों को चढ़ना शुरू कर दिया था, वह फिर बिना किसी सामरिक हमले के ही कैसे ध्वस्त हो गयी?

इन सवालों के जवाब ढूँढ़ने के लिए आप वह पूरी पुस्तिका ज़रूर पढ़ें जिसके कुछ अंश हमने ऊपर प्रकाशित किये हैं – 'अक्टूबर क्रान्ति की उपलब्धियाँ, समाजवादी संक्रमण की समस्याएँ और भविष्य की सम्भावनाएँ', लेखक : शशि प्रकाश।

आप लेखक की यह पुस्तिका भी ज़रूर पढ़ें – 'समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा साँस्कृतिक क्रान्ति'।

दिल्ली में हर साल प्रदूषण से हो रही हैं 17 हज़ार मौतें!!

(पेज 16 से आगे)

असलियत यह है कि पहले तमाम फैक्ट्रियों को बिना पर्यावरण की परवाह किये, बेधड़क बिना किसी अवशिष्ट व प्रदूषण संसाधन के उत्पादन करने की खुली छूट दी जाती है और जब प्रदूषण अपने चरम पर पहुँच जाता है, तो प्रदूषण के आँकड़े छिपाने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए रात में दिल्ली में प्रदूषण की रीडिंग ही ग़ायब हो जाती है। दिल्ली का AQI जिसकी ऊपरी रीडिंग 500 ही है, प्रदूषण उससे कहीं ऊपर चला जाता है, जैसा कि कई अन्तरराष्ट्रीय मापकों ने बताया भी है। लेकिन जब सच छिपाये नहीं छिपता तो "क्लाउड सीडिंग" की नौटंकी शुरू कर दी जाती है और हमें बताया जाता है "फिकर नॉट, सब चंगा सी!" कुल मिलाकर बात यह है कि सरकार प्रदूषण पर पिछले आठ महीने से आँख मूँदकर बैठी रहती है और जब पानी सिर से ऊपर चला जाता है तो आनन-फ़ानन में कुछ दिखावटी ड्रामा शुरू कर देती है।

दिल्ली में प्रदूषण के कारणों के लिए ज़िम्मेदार कौन?

अक्सर तमाम न्यूज़ चैनलों, टीवी, अख़बारों के ज़रिये हमें बताया जाता है कि देश और दिल्ली में हो रहे प्रदूषण के लिए हम, यानी आम जनता ही ज़िम्मेदार है। हमने अपना काम ठीक से नहीं किया इसलिए प्रदूषण बढ़ रहा है। लेकिन हक़ीक़त यह नहीं है। इसके लिए तो मुख्य तौर पर सरकार और वे कारख़ाना मालिक ज़िम्मेदार हैं जो अपने मुनाफ़े की अन्धी हवस में प्रकृति को किसी भी हद तक निचोड़ने को तैयार हैं, बिना इसकी परवाह किये कि इसका धरती पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उत्पादन बढ़ाने के लिए कारख़ानों में तमाम सुरक्षा पैमानों को बाईपास कर दिया जाता है और इन कारख़ानों में बेरोकटोक उत्पतादन जारी रहता है। वैसे ही तमाम बड़े पूँजीपति किसानों द्वारा पराली को जला दिया जाता है और सरकार कुछ नहीं करती या नाम के लिए कुछ एफ़आईआर दर्ज कर लेती है। पूँजीपतियों के लिए काम कर रही यह सरकार उन्हें खुली छूट देती है और दोषारोपण आम जनता पर किया जाता है।

संक्षेप में कहें तो उद्योगों से, यातायात के विभिन्न साधनों से, जीवाश्म ईंधन के जलने से पैदा होने वाला धुआँ और रेडिएशन प्रदूषण के सबसे बड़े कारण हैं। और इन कारणों के कारण क्या हैं? पूँजीवाद के भोंपू अक्सर इसका कारण बढ़ती हुई आबादी को बताते हैं। प्रदूषण के बढ़ने और अनियंत्रित होने का कारण बढ़ती हुई आबादी नहीं है, बल्कि मुनाफ़े पर टिकी हुई पूँजीवादी व्यवस्था है। इस व्यवस्था में कोई भी उत्पादन, वाहन या कारख़ाने, आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि मुनाफ़े के लिए होता है। यहाँ तक कि खाद्य पदार्थों का उत्पादन भी। तो ज़ाहिर है, इसके प्रदूषण के लिए ज़िम्मेदार भी मुनाफ़े पर आधारित व्यवस्था है, न कि आबादी। इतना ही नहीं इस अन्धी हवस में जो अतिरिक्त उत्पादन होता है तथा इस उत्पादन की प्रक्रिया में जो कचड़ा निकलता है वह सबसे बड़े कार्बन उत्सर्जन के स्रोतों में आते हैं और यही इस पूरे धरती पर ग्लोबल वार्मिंग के लिए भी ज़िम्मेदार होते हैं।

प्रदूषण के बढ़ते ही जब सरकार हर तरीक़े से इस रोकने में विफ़ल हो जाती है, तो हर बार इसका ठीकरा आम जनता पर फोड़ा जाता है। दिल्ली की ज़हरीली हवा में हर दिन आम लोगों का दम पहले ही घुट रहा है, ऐसे में तमाम निर्माण कार्यों पर रोक लगाने, स्कूल-कॉलेज बन्द कर देने, कई परिवहनों पर रोक लगाने तथा सरकारी मानकों को न मानने का हवाला देकर लोगों पर जुर्माना लगाने जैसे तरीक़ों से आम जनता को ही प्रताड़ित किया जाता है।

फ़िलहाल, दिल्ली व देश के अन्य हिस्सों में भयावह वायु प्रदूषण की स्थिति से निपटने के लिए केन्द्र व दिल्ली सरकार तत्काल यह करना चाहिए :

1) दिल्ली में स्वास्थ्य आपातकाल की घोषणा की जाये और इससे लोगों को बचाने के लिए तत्काल ठोस और प्रभावी योजना ली जाये।

2) दिल्ली सरकार की जवाबदेही तय हो – मुख्यमंत्री रेखा गुप्ता स्वयं रिपोर्ट पेश करें।

3) प्रदूषण नियंत्रण पर एक जन नागरिक समिति गठित की जाये, जिसमें आम नागरिक शामिल हों।

4) निजी वाहनों से हो रहे प्रदूषण को कम करने के लिए सस्ते और बेहतर सार्वजनिक परिवहन का नेटवर्क खड़ा किया जाये।

5) ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों को उपयोग में लाया जाना चाहिए।

6) औद्योगिक अपशिष्ट का निष्पादन पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित मापदण्डों के अनुसार किया जाना चाहिए।

7) सुरक्षा मापदण्डों का उल्लंघन करने वाले कारख़ाना मालिकों के ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई की जानी चाहिए और उनका पंजीकरण रद्द किया जाना चाहिए।

8) सीवेज ट्रीटमेण्ट की उचित व्यवस्था की जाये।

9) प्रदूषण के कारण बढ़ रही बीमारियों के उपचार के लिए सरकार को नि:शुल्क और उचित स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध करानी चाहिए।

10) अगर निर्माण कार्य पर रोक लगायी जाती है, तो सभी निर्माण मज़दूरों को पर्याप्त गुज़ारा भत्ता दिया जाये।

11) फैक्ट्रियों को विकेन्द्रित किया जाये और देश के अन्य इलाक़ों में इनका विस्तार किया जाये जिससे दिल्ली जैसे शहरों के भार को कम किया जा सके।

हमें यह भी समझना होगा कि प्रदूषण की समस्या का अन्त इस मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था में हो ही नहीं सकता है क्योंकि वायु प्रदूषण की समस्या पूँजीवादी समाज व्यवस्था की अन्तर्निहित अराजकता, समृद्धिशाली वर्गों की निकृष्ट स्वार्थपरता और विलासिता तथा पूँजीवादी समाज में सरकारों की वर्गीय पक्षधरता का परिणाम है।

जन समुदाय यदि जागरूक होकर और संगठित होकर दबाव बनाये, तभी सत्तातंत्र को इस समस्या से राहत दिलाने के लिए कुछ सार्थक क़दम उठाने को बाध्य किया जा सकता है। इस समस्या का अन्तिम और निर्णायक समाधान तभी हो सकता है जब लोभ-लाभ और स्वार्थपरता की जननी पूँजीवादी व्यवस्था को जन समुदाय द्वारा उसकी सही जगह, इतिहास के कूड़ेदान में डाल दिया जाये।

वोट-चोरी और चुनावी धाँधली के ज़रिये जनता के बुनियादी राजनीतिक जनवादी अधिकारों को निरस्त करने के विरुद्ध जुझारू व्यापक जनान्दोलन खड़ा करो!

(पेज 1 से आगे)

चुनावी दल के लिए सबसे महत्वपूर्ण राज्यों में से एक है। नतीजतन, प्रदेश में मोदी-शाह की केन्द्र सरकार और नीतीश कुमार की राज्य सरकार की बढ़ती अलोकप्रियता को देखकर अमित शाह और उनके इशारों पर काम करने वाले केचुआ ने छह महीने पहले ही राजग की जीत की पटकथा लिखनी शुरू कर दी थी। शुरुआत हुई थी विशेष गहन पुनरीक्षण यानी एसआईआर के साथ। सभी जानते थे और कइयों ने स्पष्ट तौर पर कहा भी था कि छह महीने के भीतर बिहार जैसे भारी जनसंख्या वाले राज्य में एसआईआर सही ढंग से किया ही नहीं जा सकता है। *लेकिन सही ढंग से एसआईआर करना किसे था?!* एसआईआर का मक़सद क्या था यह उसके नतीजों से साफ़ हो जाता है।

एसआईआर का परिणाम यह हुआ कि 1 अगस्त को पंजीकृत मतदाताओं की संख्या 7.89 करोड़ से घटकर 7.24 करोड़ रह गयी। इसके बाद, अन्तिम सूची से पहले 3.66 लाख नाम और हटाये गये और 21.53 लाख नये नाम जोड़े गये। नतीजतन, मतदाताओं की संख्या हो गयी 7.42 करोड़। यानी, लगभग आधे करोड़ लोगों को मतदाता सूची से हटा दिया गया! यह सब "घुसपैठियों" को निकालने के नाम पर किया गया हालाँकि कोई घुसपैठिया मिला नहीं! वैसे भी एसआईआर को घुसपैठियों की पहचान करने का कोई अधिकार नहीं है, यह ख़ुद भारत सरकार मानती है। वास्तव में, मोदी-शाह जोड़ी एन.आर.सी. की नापाक साज़िश को ही अब एसआईआर के ज़रिये लागू करवा रही है। "घुसपैठियों" का नकली भय दिखाने का काम मोदी-शाह सरकार पिछले दशक भर से करती रही है, जिसका असली मक़सद है भारत के मुसलमान नागरिकों के बुनियादी राजनीतिक अधिकारों को छीन लेना और उनके प्रति देश में एक साम्प्रदायिक माहौल तैयार करना। इसी साम्प्रदायिकता के तन्दूर पर अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने का काम भाजपा अपने जन्म से ही अलग-अलग तरीक़ों से करती रही है।

तमाम जाँच रपटों के अनुसार, जिन लोगों का नाम मतदाता सूची से एसआईआर द्वारा मिटा दिया गया वे आम तौर पर मुसलमान, दलित, ग़रीब पिछड़े व ग़रीब दलित व पिछड़े परिवारों से आने वाली स्त्रियाँ हैं और इसके अलावा बड़ी संख्या में प्रवासी मज़दूर भी इसमें शामिल हैं। ये बातें विस्तृत जाँच होने पर और भी साफ़ हो जायेंगी।

बहरहाल, प्रति सीट मिटाये गये मतदाताओं की औसत संख्या बनती है 26,749 जबकि इस बार बिहार विधानसभा चुनावों में जीत-हार का औसत अन्तर था 20,940। यानी, अधिकांश सीटों में जीत-हार का फ़ैसला एसआईआर के द्वारा विपक्ष के लिए वोट करने वाले सम्भावित मतदाताओं के नाम भारी संख्या में मिटाकर पहले ही कर दिया गया था। कुल 174 सीटों में जीत-हार का अन्तर मिटाये गये मतदाताओं की संख्या से कम रहा। इनमें से 75 सीटें ऐसी हैं जो पिछले चुनावों में भाजपा-नीत राजग गठबन्धन हारा था, लेकिन इस बार जीत गया है! भाजपा-नीत गठबन्धन द्वारा जीती गयी कुल 202 सीटों में से 128 सीटें ऐसी थीं जहाँ एसआईआर द्वारा मिटाये गये वोटरों की संख्या सबसे ज़्यादा थी। यानी, अगर एसआईआर की चुनावी धाँधली न होती तो भाजपा चुनाव जीत ही नहीं सकती थी। ख़ुद अमित शाह का आकलन 160 सीटें जीतने का था! लेकिन केचुआ के ज्ञानेश बाबू ने स्वामी-भक्ति में अतिरेकपूर्ण उत्साह दिखला दिया!

इसके अलावा, भारी संख्या में फ़र्ज़ी वोटरों के नाम जोड़कर भी भाजपा-नीत गठबन्धन की पार्टियों को फ़ायदा पहुँचाया गया। यहाँ तक कि चुनावों के दौरान ही वोटरों की संख्या 7.42 करोड़ से बढ़कर 7.45 करोड़ हो गयी! यानी, 3 लाख अतिरिक्त वोट आ गये! बड़ी संख्या में भाजपा के कार्यकर्ताओं और समर्थकों से, जिनमें कई भाजपा नेता, विधायक, मन्त्री आदि भी शामिल थे, दो या उससे ज़्यादा बार वोट डलवाया गया, जिसकी तस्वीरें सोशल मीडिया पर मौजूद हैं। कई भाजपाई जो दूसरे राज्यों में वोट कर चुके थे, उनसे बिहार विधानसभा चुनावों में फिर से वोट डलवाया गया। ईवीएम मशीनों को बदले जाने, उनके काम न करने, ईवीएम स्ट्रांग रूम में 24 घण्टे चलने वाले कैमरों के बन्द हो जाने की रपटें पूरे प्रदेश से वोटिंग के बाद आती रहीं। याद रहे, आज तक भी क़रीब 19 लाख ग़ायब ईवीएम मशीनों का कोई पता नहीं चला है। इसके अलावा, चुनाव आचार संहिता का खुलेआम उल्लंघन करते हुए लाखों महिलाओं में रु. 10,000 की ख़ैरात सरकारी ख़ज़ाने से बाँटकर उनके वोट ख़रीदने का काम भी रंगा-बिल्ला की जोड़ी ने खुलेआम किया। जब समूचा केचुआ ही जेब में बैठा हो, तो डर किस बात का!?

विपक्षी दल कांग्रेस द्वारा किये गये भण्डाफोड़ के अनुसार हरियाणा के विधानसभा चुनावों में भी 50 लाख वोटों की चोरी की गयी थी। राहुल गाँधी के इस आरोप को भाजपा और केचुआ बस ख़ारिज कर दे रहे हैं, अपने चमचे नौकरशाहों से राहुल गाँधी के विरुद्ध पत्र लिखवा रहे हैं, लेकिन इन आरोपों को ग़लत साबित करने के लिए कोई प्रति-प्रमाण नहीं पेश कर पा रहे हैं क्योंकि ऐसे कोई प्रमाण मौजूद ही नहीं हैं। यह देश का हर विवेकवान नागरिक अच्छी तरह से समझ रहा है कि चुनावी धाँधली द्वारा भाजपा लगातार चुनाव चोरी कर रही है।

अभी चुनाव आयोग ने न्यायपालिका को बताया कि 2024 के लोकसभा चुनावों से जुड़ी सारी फ़ुटेज चुनाव आयोग ने नष्ट कर दी है! क्यों? ऐसे डाटा का स्टोरेज करना इतना भी महँगा नहीं है कि सरकार उसे नष्ट कर दे। ऊपर से राजनीतिक जनवाद के एक बुनियादी अधिकार यानी मत देकर सरकार चुनने के अधिकार को ही चोर-दरवाज़े से छीन लिये जाने का प्रश्न हो, तो निश्चित ही इतना ख़र्च उठाया जा सकता है और उठाया जाना चाहिए। लेकिन **2024 के फ़ुटेज नष्ट किये जाने से ही स्पष्ट हो जाता है कि दाल में कुछ काला नहीं बल्कि पूरी दाल ही काली है।**

निश्चित ही, भाजपा-नीत गठबन्धन की भारी चुनावी धाँधली के आधार पर हासिल की गयी जीत के पीछे **दो सामान्य कारक** भी हमेशा की तरह मौजूद हैं : **पहला,** मन्दी के दौर में पूँजीपति वर्ग के बहुलांश का भाजपा के मोदी-शाह शासन को भारी एकजुट समर्थन जो उन्हें मुनाफ़े की औसत दर के संकट से निजात दिलाने के लिए तानाशाहाना तरीक़े से आम मेहनतकश जनता को दबाकर उनकी औसत आय और औसत मज़दूरी को गिराने का काम पिछले 11 वर्षों से कर रहा है और बड़ी पूँजी को लूट-खसोट की पूरी छूट दे रहा है; और दूसरा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (जिसका चुनावी फ्रण्ट भाजपा है) का काडर-आधारित फ़ासीवादी संगठन होना जो अनुशासित तरीक़े से फ़ासीवादी एजेण्डा, राजनीति और विचारधारा का प्रचार गली-गली और गाँव-गाँव तक में करता है, उनके झूठे प्रचारों व नैरेटिव को सच के तौर पर स्थापित करने का काम करता है, अपनी संस्थाओं के ज़रिये 'वफ़ादारी नेटवर्क' जनसमुदायों के बीच खड़ा करता है, निरन्तर साम्प्रदायिक प्रोपगैण्डा करता है और मुसलमानों के रूप में एक *नक़ली दुश्मन* की छवि निर्मित कर व्यापक हिन्दू आबादी को एक छद्म भय में रखता है।

पूँजीपति वर्ग के भारी व एकजुट आर्थिक समर्थन और पिछले एक सदी में निर्मित संघ परिवार के काडर-आधारित व्यापक संगठन के बिना भाजपा वोट-चोरी व चुनावी धाँधली का उपरोक्त कुकर्म करने में क़ामयाब नहीं हो सकती थी। **उसके फ़ासीवादी कार्यक्रम का लक्ष्य है पूँजीवादी लोकतन्त्र का खोल बचाये रखते हुए उसकी अन्तर्वस्तु को लगातार क्षरित किया जाय। इसके लिए लम्बे दौर में पूँजीवादी राज्यसत्ता के समस्त निकायों में आन्तरिक घुसपैठ के ज़रिये उसे हाईजैक करना और समाज के पोरों में अपनी फ़ासीवादी संस्थाओं के ज़रिये पकड़ बनाना इस कार्यक्रम में अपनायी जाने वाले आम रणनीति है और वोट-चोरी और चुनावी धाँधली उसकी इसी आम रणनीति का मौजूदा विशिष्ट अंग मात्र है।**

ऐसे में हमें क्या करना चाहिए? हम मज़दूरों, ग़रीब किसानों और आम मेहनतकशों को भी यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि भयंकर पैमाने पर चुनावी धाँधली हो रही है, मताधिकार को ही चोर-दरवाज़े से छीना जा रहा है और एक ऐसी स्थिति पैदा की जा रही है, जिसमें चुनावों का कोई मतलब ही न रह जाये। पूँजीवादी लोकतन्त्र कम-से-कम औपचारिक तौर पर यह राजनीतिक जनवादी अधिकार जनता को देता है कि वह अपने जनप्रतिनिधि चुन सकें। निश्चित तौर पर, पूँजीवादी लोकतन्त्र में मिलने वाले इस राजनीतिक जनवादी अधिकार के बावजूद जनता कभी आम तौर पर अपने सच्चे जनप्रतिनिधियों को नहीं जितवा पाती क्योंकि केवल राजनीतिक जनवाद आम मेहनतकश जनता के लिए कभी पर्याप्त नहीं होता।

जब तक कि समाज में समस्त संसाधनों व उत्पादन के साधनों पर मुट्ठीभर धन्नासेठों का मालिकाना और नियन्त्रण हो, महज़ औपचारिक राजनीतिक जनवाद से जनता को आर्थिक व सामाजिक न्याय और बराबरी नहीं मिल सकती। यही वजह है कि अगर पारदर्शिता के साथ और नियमपूर्वक हों तो भी पूँजीवादी चुनावों में पूँजीपति वर्ग के धनबल और बाहुबल का खेल चलता है। इतने बड़े निर्वाचक मण्डल बनाये गये हैं कि उनमें आम जनता के सच्चे प्रतिनिधि खड़े ही नहीं हो सकते, खड़े हो जायें तो जीत नहीं सकते और अगर आपवादिक रूप से जीत जायें तो उन्हें संसद-विधानसभाओं में पूँजीपति वर्ग के बाक़ी प्रतिनिधि काम नहीं करने देते। पूँजीवादी चुनाव ऐसे ही हो सकते हैं। कहीं आपवादिक तौर पर, क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी तो भूल जायें, अगर कोई लोकरंजकतावादी निम्न-बुर्जुआ 'समाजवादी' पार्टी भी चुनावों के ज़रिये बहुमत में आ जाये (आज तो यह भी लगभग असम्भव ही है) और सरकार बना ले, तो सेना-पुलिस व नौकरशाही आर्थिक शक्तिमत्ता और सम्पत्ति से लैस पूँजीपति वर्ग की शह पर उसका तख़्तापलट कर देते हैं और आम तौर पर इसमें साम्राज्यवादी ताक़तों की पूरी मदद ली जाती है, जैसा कि 1973 में चीले में अयेन्दे की सरकार के साथ हुआ था। क्योंकि साम्राज्यवाद का भी हित इसी में होता है कि तमाम देशों में पूँजीपति वर्ग की ही कोई सत्ता क़ाबिज़ रहे। केवल चुनाव जीतकर सरकार बना लेने से समाज में मौजूद उत्पादन सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं आता क्योंकि उसे क़ायम रखने वाली राज्यसत्ता के सभी स्थायी निकाय पहले के समान बने रहते हैं और साथ ही जनता की क्रान्तिकारी पहलक़दमी भी महज़ चुनावों से निर्बन्ध नहीं होती। इसीलिए सर्वहारा वर्ग का दूरगामी लक्ष्य महज़ चुनावों को जीतकर सरकार बनाना नहीं है क्योंकि क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग समझता है कि सरकार पूँजीपति वर्ग की राज्ययसत्ता का केवल एक अस्थायी निकाय है, उसकी कार्यपालिका का औपचारिक अंग है। लेकिन वास्तव में कार्यपालिका की भूमिका निभाते हैं नौकरशाही, सेना, पुलिस, अर्द्धसैनिक बल, आदि जो पूँजीपति वर्ग के शासन को प्रबन्धित करने वाले स्थायी निकाय होते हैं। **जब तक एक सर्वहारा क्रान्ति के ज़रिये समूची पूँजीवादी राज्यसत्ता का ही ध्वंस नहीं किया जाता, एक क्रान्तिकारी सर्वहारा राज्यसत्ता क़ायम नहीं की जाती, तब तक सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में आम मेहनतकश जनता के हितों के लिए काम करने वाली समाजवादी व्यवस्था का निर्माण नहीं हो सकता है।**

लेकिन क्या इसका अर्थ यह है कि हम पूँजीवादी लोकतान्त्रिक चुनावों को भंग कर देने के पक्ष में हैं या पूँजीवादी लोकतान्त्रिक चुनावों में मिलने वाले राजनीतिक अधिकार को निष्प्रभावी बना दिये जाने के प्रति हम तटस्थ रहते हैं? कतई नहीं! वजह यह कि राजनीतिक जनवाद के ज़रिये सर्वहारा वर्ग अपने वर्ग संघर्ष को सबसे प्रभावी तरीक़े से आगे बढ़ाता है, वह जनता के अन्य वर्गों के बीच क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार कर उन्हें जागरूक, गोलबन्द और संगठित करने का काम करता है और एक क्रान्तिकारी पार्टी को *सर्वहारा वर्ग के हिरावल* और *जनता के क्रान्तिकारी कोर* के तौर पर खड़ा करता है। अगर सर्वहारा वर्ग के पास कोई राजनीतिक स्पेस नहीं होगा, तो पहले उसे इस राजनीतिक स्पेस के लिए लड़ना ही होगा। राजनीतिक जनवाद की लड़ाई इसलिए सर्वहारा

(पेज 11 पर जारी)

वोट-चोरी और चुनावी धाँधली के ज़रिये जनता के बुनियादी राजनीतिक जनवादी अधिकारों को निरस्त करने के विरुद्ध जुझारू व्यापक जनान्दोलन खड़ा करो!

(पेज 10 से आगे)

वर्ग के लिए महत्वपूर्ण है। वह देश और दुनिया में कहीं भी होने वाले दमन, उत्पीड़न, राजनीतिक जनवाद के हनन के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाता है क्योंकि हर रूप में शोषण, दमन और उत्पीड़न का विरोध करके और उसके विरुद्ध लड़कर ही सर्वहारा वर्ग एक राजनीतिक वर्ग बन सकता है, जो समूची मेहनतकश जनता को क्रान्तिकारी नेतृत्व दे एक समाजवादी क्रान्ति की ओर ले जा सकता है। यही वजह है कि क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग मज़दूर वर्ग के संघर्षों को महज़ उसकी विशिष्ट आर्थिक माँगों तक सीमित करने देने की संसदीय वामपंथी व संशोधनवादी दलों की अर्थवादी लाइन का विरोध करता है। **राजनीतिक जनवाद के हर सवाल पर संघर्ष करके, शोषण और दमन के हर मसले पर शासक वर्गों की मुख़ालफ़त करके ही सर्वहारा वर्ग व्यापक मेहनतकश जनता को जागरूक, गोलबन्द और संगठित कर सकता है और उसके क्रान्तिकारी नेतृत्व की भूमिका को निभा सकता है।**

इसलिए आज भी मताधिकार के बेहद महत्वपूर्ण राजनीतिक जनवादी अधिकार के प्रभावत: छीन लिये जाने के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग और जनता की ताक़तों को पुरज़ोर तरीक़े से आवाज़ उठानी होगी। इसके लिए एक ओर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठनों व ग्रुपों को, चाहे वे क्रान्ति का कोई भी कार्यक्रम मानते हों, चाहे वे कोई भी रणनीति व आम रणकौशल मानते हों, एक फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे में साथ आना चाहिए। वहीं दूसरी ओर, ऐसे मोर्चे को पूँजीवादी विपक्ष के उन दलों के साथ भी रणकौशलात्मक विशिष्ट और मुद्दा-आधारित मोर्चा बनाना चाहिए जो वोट-चोरी और चुनावी धाँधली के समूचे गोरखधंधे के विरुद्ध सड़कों पर उतर कर जनता को गोलबन्द करने और उनके साथ लड़ने के लिए तैयार हों। कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे मोर्चे में क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ काम करना चाहिए और इस राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ एक बुनियादी राजनीतिक जनवादी अधिकार के प्रश्न पर लड़ने को तैयार सभी विपक्षी दलों से भी विशिष्ट रणकौशलात्मक मोर्चा अवश्य ही बनाना चाहिए।

लेकिन दिक्कत यह है कि अभी तक कोई विपक्षी दल इस प्रश्न पर सड़कों पर उतरकर जुझारू तरीक़े से लड़ने के लिए तैयार नहीं दिख रहा है। एक पूँजीवादी राजनीतिक विशेषज्ञ परकला प्रभाकर ने विपक्षी दलों से कहा है कि उनके साँसदों और विधायकों को इस्तीफ़ा दे देना चाहिए और चुनावों में तब तक हिस्सेदारी नहीं करनी चाहिए जब तक कि चुनावी धाँधली बन्द नहीं की जाती, केचुआ को मोदी-शाह के चंगुल से मुक्त नहीं कराया जाता और चुनावी व्यवस्था में सुधार नहीं किया जाता। तब तक चुनावों में भागीदारी करके वे चुनावी घोटाले को वैधता प्रदान कर रहे हैं। *इस सलाह के हर बिन्दु से सहमत हुए बिना यह मानना होगा कि इसमें सत्यांश है।* जब तक पूँजीवादी विपक्षी दल इस चुनावी धाँधली को मुद्दा बनाकर सड़कों पर नहीं उतरते तब केवल चुनावों में हिस्सेदारी करके वे इस चुनावी धाँधली को वैधता ही प्रदान करेंगे। चुनावों में भागीदारी का अर्थ भी तभी होगा जब ये दल वोट-चोरी और चुनावी धाँधली के विरुद्ध सड़कों पर आन्दोलनरत होकर यह कार्य करें।

लेकिन भाजपा और संघ परिवार द्वारा की जा रही व्यवस्थित चुनावी धाँधली का मुक़ाबला करने के लिए आन्दोलन खड़ा करने हेतु इन दलों के पास कोई मज़बूत सांगठनिक ढाँचा मौजूद नहीं है। साथ ही, भाजपा ने सभी विपक्षी दलों के भीतर भी घुसपैठ कर रखी है, जिसे ख़त्म किये बिना कोई भी विपक्षी पूँजीवादी दल पार्टी में फूट का ख़तरा उठाये बिना ऐसा क़दम उठाने की क्षमता नहीं रखता है। अमित शाह न सिर्फ़ भाजपा की रणनीति तय करने का काम करते हैं, बल्कि आंशिक तौर पर वह अन्य पूँजीवादी चुनावी दलों की रणनीति निर्माण में भी अपने एजेण्टों के ज़रिये हस्तक्षेप करते हैं। ऐसे में, इस समय राहुल गाँधी बिहार विधानसभा चुनावों में हुई चुनावी धाँधली को साक्ष्य समेत बेनक़ाब करने का वायदा मात्र कर रहे हैं और अन्य राज्यों में एसआईआर को रोकने के लिए प्रयास करने की बात कर रहे हैं। लेकिन जनता का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा अब इस चुनावी धाँधली से वाक़िफ़ है और किसी नये साक्ष्य को प्रस्तुत कर देने मात्र से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला है। इतना स्पष्ट है कि पूँजीवादी विपक्षी दल जनता के इस बुनियादी राजनीतिक अधिकार, यानी मताधिकार की हिफ़ाज़त के लिए कोई जुझारू लड़ाई लड़ने की क्षमता, मूलत: और मुख्यत:, खो चुके हैं। जनता का कोई स्वत:स्फूर्त आन्दोलन उन्हें उनकी इच्छा या क्षमता के विपरीत अवश्य सड़कों पर उतरने को मजबूर कर सकता है, लेकिन तब भी ऐसे आन्दोलन में जनता की क्रान्तिकारी ऊर्जा का स्वत:स्फूर्त विस्फोट मुख्य प्रेरक तत्व की भूमिका निभायेगा।

यह नवउदारवादी दौर में आम तौर पर पूँजीवादी पार्टियों की स्थिति को बयान करता है, यह सिर्फ़ भारत में पूँजीवादी पार्टियों की पुंसत्वहीनता का प्रश्न नहीं है। इसके विपरीत, नवउदारवादी दौर की दूसरी ख़ासियत यह है कि बढ़ती सामाजिक व आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता के आम ऐतिहासिक व राजनीतिक सन्दर्भ में यह शक्तिशाली फ़ासीवादी व नवफ़ासीवादी आन्दोलनों और पार्टियों के उभार की ज़मीन तैयार करता है, जो बीसवीं सदी के जर्मन नात्सी या इतालवी फ़ासीवादी शासन के समान पूँजीवादी लोकतन्त्र के खोल को, यानी संसदीय व्यवस्था, चुनाव आदि को औपचारिक तौर पर भंग नहीं करते, बल्कि उस खोल को बरक़रार रखते हुए उसकी अन्तर्वस्तु को लगातार नष्ट करते हैं। नतीजतन, काग़ज़ों पर पूँजीवादी लोकतन्त्र बना रहता है, लेकिन उसके द्वारा प्रदत्त तमाम राजनीतिक अधिकार, संस्थाएँ व प्रक्रियाएँ प्रभावत: बेमानी हो जाते हैं। विशेष तौर पर, 2014 से हम भारत में यही प्रक्रिया देखते आ रहे हैं। इसके पीछे फ़ासीवादी संगठन द्वारा बुर्जुआ राज्यसत्ता के निकायों में योजनाबद्ध घुसपैठ और समाज के पोरों में फ़ासीवादियों द्वारा की गयी लम्बी घुसपैठ खड़ी है। हम 'बिगुल' के पन्नों पर इस प्रक्रिया के बारे में 2009 से लगातार लिखते आ रहे हैं और पिछले 16 वर्षों ने हमारी इन बातों को सारत: सही सिद्ध किया है।

इसमें कोई शक़ नहीं है कि जनता में उसके मताधिकार के बुनियादी राजनीतिक अधिकार को प्रभावत: रद्द किये जाने की मोदी-शाह शासन की साज़िशों को लेकर असन्तोष है। लेकिन साथ ही कोई राजनीतिक नेतृत्व, दिशा और कार्यक्रम न होने के कारण उनमें एक प्रकार की हताशा और तटस्थता का भाव भी है। ज़ाहिर है, विकल्पों के अभाव में जब जनता के अधिकार लगातार छीने जाते हैं तो शान्ति की प्रतीतिगत स्थिति हमेशा बनी नहीं रहती है। जनता का यह गुस्सा और असन्तोष कभी न कभी फूटकर सड़कों पर बहता है। लेकिन बिना किसी राजनीतिक नेतृत्व और संगठन के ऐसे विस्फोट कोई स्थायी समाधान नहीं पेश कर पाते। वे अक्सर ज़्यादा से ज़्यादा एक जनविद्रोह की शक़्ल ले पाते हैं, जैसा कि बांग्लादेश, श्रीलंका और नेपाल में हुआ। लेकिन शासक वर्ग ऐसे विद्रोहों से उसके शासन और राज्यसत्ता में पैदा होने वाले उथल-पुथल और विक्षोभ को जल्द ही क़ाबू में कर लेता है। तात्कालिक तौर पर, कोई सुधारवादी दिखने वाला चेहरा जनता के सामने आगे कर दिया जाता है ताकि जनता के गुस्से के झटके को सोखा जा सके। श्रीलंका में जेवीपी की सरकार, बांग्लादेश में मोहम्मद यूनुस की अन्तरिम सरकार और नेपाल में सुशीला कार्की की अन्तरिम सरकार लाकर यही किया गया था। बुनियादी राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया। जनता भी अपने गुस्से को ऐसी विद्रोही अभिव्यक्ति देने के बाद भ्रम का शिकार होकर घरों को वापस लौट जाती है और पूँजीपति वर्ग का शासन बरक़रार रहता है। इसलिए महज़ पूँजीवाद की कुछ अभिव्यक्तियों व लक्षणों पर स्वत:स्फूर्त विरोध और विद्रोह करने से चीज़ें नहीं बदलती हैं। उसके लिए एक क्रान्तिकारी राजनीति, संगठन और विचारधारा की आवश्यकता होती है। दुनियाभर में आज इन क्रान्तिकारी तत्वों के अभाव में ही विभिन्न स्वत:स्फूर्त पूँजीवाद-विरोधी विद्रोह और विरोध-आन्दोलन ज़्यादा से ज़्यादा कुछ तात्कालिक राहत व सुधार प्राप्त करके समाप्त हो जा रहे हैं। वास्तव में, 2007 में वैश्विक महामन्दी की शुरुआत के बाद से ही दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में हम बार-बार यह होता देख रहे हैं।

ऐसे में चिन्ता की बात यह है कि दुनिया के अधिकांश देशों में और हमारे देश में भी कोई ऐसी देशव्यापी क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी मौजूद नहीं है, जो मौजूदा समय के अनुसार सही कार्यक्रम और सही राजनीतिक लाइन से लैस हो। ऐसी पार्टी का निर्माण करना आज का सबसे बुनियादी कार्यभार है। लेकिन आज जो राजनीतिक स्थिति देश में मौजूद है, उसके मद्देनज़र ऐसी पार्टी के निर्माण के समय तक फ़ासीवाद-विरोधी जुझारू जनान्दोलनों को खड़ा करने के कार्यभार को निलम्बित नहीं किया जा सकता है। वस्तुत:, ऐसे जनान्दोलनों को खड़ा करने की प्रक्रिया में ही ऐसी पार्टी का निर्माण भी किया जा सकता है। क्योंकि सही राजनीतिक लाइन और कार्यक्रम स्वयं ऐसे आन्दोलनों की प्रक्रिया में ही निर्मित होते हैं, जनता के बीच प्राधिकार स्थापित करते हैं और सांगठनिक रूप धारण करते हैं। राजनीतिक लाइन व कार्यक्रम के सहीपन की परख इसी प्रक्रिया में हो सकती है। यह क्रान्तिकारी जनदिशा का बुनियादी उसूल है। सही विचार आसमान से नहीं टपकते। वे सामाजिक व्यवहार से और सामाजिक व्यवहार में संलग्न मेहनतकश जनता के बीच से ही पैदा होते हैं और इसी प्रक्रिया में क्रान्तिकारी पार्टी का काम जनता के बीच बिखरे, अव्यवस्थित, अविकसित सही विचारों को संगठित करना, व्यवस्थित करना, विकसित करना और उन्हें एक संश्लेषित करके एक सही राजनीतिक लाइन का स्वरूप देना होता है।

ऐसे जनान्दोलनों को खड़ा करने के लिए छोटी-बड़ी सभी क्रान्तिकारी सर्वहारा ताक़तों को आज एक फ़ासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा बनाने की ज़रूरत है। साथ ही, पूँजीवादी विपक्ष को भी व्यापक जनदबाव पैदा कर ऐसे क्रान्तिकारी फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे के साथ विशिष्ट मुद्दा-आधारित एकता बनाने के लिए मजबूर किया जाना चाहिए। लेकिन ऐसे किसी भी मोर्चे में क्रान्तिकारी शक्तियों को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को पूरी तरह बरक़रार रखना चाहिए क्योंकि ऐसे जनान्दोलन की बागडोर अगर पूँजीवादी विपक्षी दलों के भरोसे छोड़ दी जाती है तो उसकी नियति में बिखर जाना ही लिखा होगा। इन पूँजीवादी दलों के सामने ऐसे मोर्चे में दो ही रास्ता होगा: *या तो उन्हें जनता की जायज़ राजनीतिक माँगों का समर्थन करना होगा और उनके आन्दोलन का पुरज़ोर तरीक़े से साथ देना होगा या फिर अपने जनविरोधी चरित्र को जनता के सामने पूरी तरह से बेनक़ाब कर देना होगा।* जनता भी समूची राजनीतिक परिस्थिति और उसमें मौजूद शक्तियों का एक सही आकलन इसी प्रक्रिया में विकसित करती है। आज क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के लिए यही राजनीतिक कार्यक्रम प्रासंगिक है और यही उसके वर्ग संघर्ष को अगली मंज़िल में ले जाता सकता है।

इसलिए आज का तात्कालिक राजनीतिक कार्यभार यह है कि सभी क्रान्तिकारी सर्वहारा शक्तियाँ एक आम फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे में साथ आयें, चुनावी धाँधली और अन्य पूँजीवादी जनवादी अधिकारों के फ़ासीवादी मोदी-शाह सत्ता द्वारा हनन के विरुद्ध एक जुझारू जनान्दोलन खड़ा करें, मुद्दा-आधारित विशिष्ट फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे में शामिल होने के लिए अन्य विपक्षी पूँजीवादी दलों पर नीचे से जनदबाव पैदा करें और उनके द्वारा जनता से किये जाने वाले हर विश्वासघात को जनता के समक्ष उजागर करें, इस प्रक्रिया में समूची पूँजीवादी व्यवस्था, पूँजीपति वर्ग और उसके दलों की सच्चाई को जनता के सामने उजागर करें। **इन कार्यभारों को पूरा करने के लिए क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी खड़ा करने के प्रयासों में संलग्न सर्वहारा क्रान्तिकारी शक्तियों को पहलक़दमी की भूमिका निभानी चाहिए।**

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला – 30

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (खण्ड-2)

अध्याय – 4

औद्योगिक पूँजी के परिपथ की सम्पूर्ण गति

● अभिनव

अब तक हमने औद्योगिक पूँजी या आम तौर पर कहें तो उत्पादक पूँजी के परिपथ के तीन रूपों को विस्तार से समझा। अगर हम पूँजी के परिपथ के इन तीनों रूपों को सम्पूर्णता में देखें तो हम पाते हैं कि इसमें उत्पादन की पूर्वशर्तों की भूमिका निभाने वाली हर स्थिति स्वयं उत्पादन का परिणाम भी है। उत्पादन संचरण की प्रक्रियाओं के मध्यस्थ के रूप में प्रकट होता है तो संचरण भी उत्पादन की प्रक्रियाओं के मध्यस्थ के रूप में प्रकट होता है। *दूसरे शब्दों में, उत्पादन और संचरण की प्रक्रियाओं की एकता औद्योगिक पूँजी के परिपथ का सम्पूर्णता में वर्णन करती है।* लेकिन सिर्फ़ इतना कह देना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि इससे यह प्रतीत हो सकता है कि औद्योगिक पूँजी के परिपथ में उत्पादन और संचरण की प्रक्रियाओं का स्थान एकसमान या बराबर है। *लेकिन वास्तव में, समूची प्रक्रिया का निर्धारक प्रेरक है पूँजी का मूल्य-संवर्धन।* यानी, उत्पादन की प्रक्रिया में मज़दूरी के उजरती श्रम का शोषण कर बेशी मूल्य का उत्पादन कर पूँजी के मूल्य में वृद्धि करना। परिपथ के पहले रूप $(M - C <^{L}_{mp} \ldots P \ldots C' - M')$ में यह समूची प्रक्रिया के लक्ष्य के रूप में साफ़ तौर पर दिखलायी देता है क्योंकि परिपथ का पहला रूप मुद्रा के रूप में वास्तवीकृत मूल्य-संवर्धित पूँजी के रूप में ही समाप्त होता है। दूसरे रूप

$$(P \ldots C' - M'.\ M - C <^{L}_{mp} \ldots P)$$

में परिपथ की शुरुआत ही मूल्य-संवर्धन से होती है। तीसरे रूप $(C' - M'.M - C <^{L}_{mp} \ldots P \ldots C')$ में परिपथ माल-उत्पाद के रूप में मूल्य-संवर्धित मूल्य से ही शुरू होता है और नये मूल्य-संवर्धन से उपजे माल-उत्पाद के साथ ही समाप्त होता है। *मूल्य-संवर्धन यानी मज़दूरों के उजरती श्रम के शोषण के ज़रिये बेशी मूल्य का उत्पादन और उसका मुद्रा-रूप में वास्तवीकरण ही समूची प्रक्रिया का प्रेरक-तत्व है।*

हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं कि सभी औद्योगिक पूँजियों के परिपथ आपस में गुँथे-बुने होते हैं। वे अलग-अलग अस्तित्वमान नहीं होते हैं, बल्कि वे कुल सामाजिक पूँजी की सम्पूर्ण गति का एक अंग मात्र होते हैं। पूँजी के परिपथ को निरन्तरता में देखें तो हर प्रस्थान-बिन्दु स्वयं आगमन-बिन्दु भी होता है और हर आगमन-बिन्दु स्वयं प्रस्थान-बिन्दु भी होता है। यानी हर बिन्दु शुरुआत भी होता है और अन्त भी होता है, जैसा किसी भी सर्किट में होता है। अगर ऐसा न हो, यानी पूँजी का परिपथ बीच में कहीं भी रुकता है या बाधित होता है, तो ऐसा नहीं सकेगा। इसलिए अपनी निरन्तरता में परिपथ का हर रूप परिपथ के अन्य रूपों को अपने भीतर समेटे रहता है। *नतीजतन, परिपथ के तीन रूप महज़ एक औपचारिक बँटवारा हैं जो हमने औद्योगिक पूँजी की गति के विश्लेषण के लिए किया है।*

मार्क्स बताते हैं कि वास्तव में परिपथ के ये तीनों रूप आंशिक रूप से एक-दूसरे को अतिच्छादित करते हैं और औद्योगिक पूँजी एक साथ परिपथ के तीनों ही रूपों में संलग्न होती है। यहाँ हम एक *समकालिकता (simultaneity)* के तत्व को देखते हैं। लेकिन इसके साथ ही एक *क्रमिकता (seriality)* का तत्व भी औद्योगिक पूँजी के परिपथ में शामिल होता है। क्योंकि पूँजी का हर रूप (मुद्रा-रूप, माल-रूप या उत्पादक-रूप) अगले रूप में तब्दील हो जाता है; नतीजतन, पूँजी का एक हिस्सा जो मुद्रा-पूँजी के रूप में मौजूद होता है वह अपने आपको उत्पादन के तत्वों यानी उत्पादक-पूँजी में तब्दील करता है, लेकिन ठीक उसी समय पूँजी का एक हिस्सा उत्पादक-पूँजी के रूप से माल-पूँजी के रूप में तब्दील हो रहा होता है; और ठीक उसी समय उत्पादित व मूल्य-संवर्धित माल-पूँजी के रूप में मौजूद पूँजी का एक अन्य हिस्सा अपने आपको मुद्रा-पूँजी में तब्दील कर रहा होता है। *यानी पूँजी एक साथ इन तीनों रूपों में मौजूद होती है, लेकिन उसका हर रूप एक दूसरे रूप में तब्दील हो रहा होता है।* वास्तव में, पूँजी के एक रूप से दूसरे रूप में रूपान्तरण का यहाँ बुनियादी महत्व है क्योंकि यही पूँजी के एक साथ सभी रूपों में मौजूद होने का आधार भी होता है। अगर रूपान्तरण की प्रक्रिया रुकी, तो फिर इन सभी रूपों में एक साथ पूँजी की मौजूदगी भी कालान्तर में सम्भव नहीं रह जाती है। *दूसरे शब्दों में, औद्योगिक पूँजी के परिपथ को गति में देखें तो समकालिकता का आधार क्रमिकता है।*

संक्षेप में, औद्योगिक पूँजी का परिपथ मुद्रा-पूँजी, माल-पूँजी और उत्पादक-पूँजी के परिपथ की एकता है, जिसमें निर्धारक प्रेरक तत्व पूँजी का मूल्य-संवर्धन यानी मुनाफ़ा हासिल करना है। अगर हम औद्योगिक पूँजी के परिपथ को निरन्तरता में देखें तो वह इस रूप में प्रकट होता है:

$$M - C <^{L}_{mp} \ldots P \ldots C' - M'.M - C <^{L}_{mp} \ldots P \ldots C' - M' \ldots$$

परिपथ के अलग-अलग रूपों का अलग-अलग अध्ययन करने तक हमने यह माना था कि समूची पूँजी एक बार में एक रूप में ही मौजूद होती है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता है। क्योंकि अगर ऐसा होगा तो जिस समय पूँजीपति उत्पादन के साधन और श्रमशक्ति ख़रीद रहा होगा, उस समय उत्पादन की प्रक्रिया बाधित होगी; जिस समय उत्पादन हो रहा होगा, उस समय उत्पादन के तत्वों की ख़रीद और उत्पादित माल की बिक्री रुकी रहेगी और जिस समय उत्पादित माल की बिकवाली हो रही होगी, उस समय उत्पादन के तत्वों की ख़रीद और उत्पादन की प्रक्रिया बाधित होगी। *यानी, उत्पादन की प्रक्रिया के समय संचरण की प्रकियाएँ रुकी रहेंगी और संचरण की प्रक्रिया के समय उत्पादन की प्रक्रिया बाधित होगी क्योंकि समूची पूँजी एक साथ एक बार में एक ही प्रक्रिया में संलग्न होगी।* लेकिन हम मज़दूर जानते हैं कि ऐसा नहीं होता है। पूँजीपति अपनी पूँजी का एक हिस्सा उत्पादन के तत्वों की ख़रीद में लगाता है, ठीक उसी समय उसका एक हिस्सा उत्पादन की प्रक्रिया में लगा होता है और ठीक उसी समय एक हिस्सा उत्पादित माल के रूप में मौजूद होता है और बिकवाली से गुज़रकर वापस मुद्रा-रूप में आ रहा होता है। अगर ऐसा न हो तो उत्पादन की प्रक्रिया और इस प्रकार बेशी मूल्य के उत्पादन व मज़दूर के शोषण की प्रक्रिया रुक-रुककर चलेगी। मिसाल के तौर पर, जब समूची पूँजी उत्पादन से गुज़रकर उत्पादित माल का रूप ग्रहण कर लेगी, तो क्या उस माल के बिकने तक पूँजीपति की मशीनें रुकी रहेंगी, मज़दूर ख़ाली बैठे रहेंगे? हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता है। पूँजीपति अपने मज़दूरों को पल भर भी ख़ाली नहीं बैठने देना चाहता और साथ ही उसका बस चले तो वह अपनी मशीनों को भी 24 घण्टे चलवाकर ख़र्च कर दे। उत्पादन व संचरण की प्रक्रिया में ऐसे अवरोध पूँजीवादी माल उत्पादक के मामले में सम्भव नहीं होते हैं। ऐसा किसी साधारण माल उत्पादक के साथ हो सकता है जो अपने श्रम से ही उत्पादन करता है और उसका मक़सद ख़रीदने के लिए बेचना, यानी अपने व्यक्तिगत उपभोग के माल प्राप्त करने के लिए अपने माल को बेचना होता है। लेकिन पूँजीवादी माल उत्पादन में ऐसा नहीं होता है। उसका मक़सद पैसे से पैसा बनाना होता है, मज़दूरों के शोषण द्वारा अधिक से अधिक बेशी मूल्य निचोड़ना होता है।

यह सच है कि पूँजी का हर विशिष्ट हिस्सा एक बार में किसी एक रूप में ही अस्तित्वमान होता है, एक साथ वह कई रूपों में अस्तित्वमान नहीं होता है। एक समय में वह या तो संचरण के क्षेत्र में होगा या उत्पादन के क्षेत्र में। लेकिन वह निरन्तर एक रूप से दूसरे रूप में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गुज़रता रहता है। दरअसल, पूँजी का प्रत्येक हिस्सा निरन्तर एक रूप से दूसरे रूप में गुज़रता रहता है, हालाँकि किसी भी दिये गये क्षण में वह किसी एक रूप में ही अस्तित्वमान होता है। एक हिस्से के लिए M…M' का परिपथ जारी रहता है, ठीक उसी समय एक अन्य हिस्से के लिए P…P की प्रक्रिया जारी रहती है और ठीक उसी समय तीसरे हिस्से के लिए C'…C' की प्रक्रिया जारी रहती है।

अब अगर औद्योगिक पूँजी एक साथ अपने तीनों रूपों में और एक साथ पूँजी के परिपथ के दोनों क्षेत्रों यानी उत्पादन व संचरण में मौजूद होती है और निरन्तर एक रूप से दूसरे रूप और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संक्रमण करती रहती है, तो यह कैसे तय होता है कि पूँजीपति की कुल पूँजी का कितना हिस्सा किस रूप में पूँजी के परिपथ में प्रवेश करता है और मौजूद रहता है? मार्क्स बताते हैं कि यह दो कारकों से निर्धारित होता है: पहला, उत्पादन की शाखा की प्रकृति क्योंकि हर उत्पादन की शाखा में उत्पादन की शुरुआत करने के लिए पूँजी की एक न्यूनतम मात्रा आवश्यक होती है; और दूसरा, पूँजीपति की कुल पूँजी का आकार। इसके आधार पर ही पूँजीपति तय कर सकता है कि वह एक बार में कितनी पूँजी उत्पादन में लगाने के लिए उत्पादन के तत्वों की ख़रीद पर लगाये, कितनी पूँजी मुद्रा-रूप में अपने पास बचाकर रखे, जब पहले ही लगायी गयी मुद्रा-पूँजी उत्पादक-पूँजी के तत्वों में तब्दील हो जाये, तो बची हुई पूँजी में से कितनी पूँजी फिर से उत्पादन के तत्वों में तब्दील करे। *यानी, उसकी पूँजी का एक हिस्सा शुरू में M से P का रूप ग्रहण करता है; जब यह हिस्सा P से मूल्य-संवर्धित होकर C' का रूप ग्रहण कर रहा होता है, उसी समय एक दूसरा हिस्सा फिर से M से P में तब्दील हो रहा होता है और जब पहला हिस्सा C' से M' में तब्दील हो रहा होता है, उसी समय दूसरा हिस्सा P से नये C' में तब्दील हो रहा होता है और एक तीसरा हिस्सा फिर से M से P में तब्दील हो रहा होता है।*

इस समूची प्रक्रिया में निरन्तरता का तत्व भी मौजूद है, क्रमिकता का तत्व भी मौजूद है और समकालिकता का तत्व भी मौजूद है। लेकिन निरन्तरता और समकालिकता इसी बात पर निर्भर करती है कि क्रमिकता का पहलू बरक़रार रहता है या नहीं। यानी अगर पूँजी किसी भी एक रूप में अटक या फँस गयी और अगले रूप में संक्रमण नहीं कर पायी, और अगर ऐसी बाधा या अवरुद्धता जारी रही, तो अन्ततः औद्योगिक पूँजी का समूचा परिपथ ही अवरुद्ध हो जायेगा। अगर पूँजीपति का उत्पादित माल C' नहीं बिकता या पर्याप्त रूप में नहीं बिकता और यह स्थिति बनी रहती है, तो पूँजी का समूचा परिपथ ही अन्ततः अवरुद्ध हो जायेगा। मिसाल के तौर पर, एक पंक्ति में चल रहे रेल के डिब्बों में से यदि सबसे आगे वाला डिब्बा बिल्कुल रुक जाता है तो अन्ततः पूरी पंक्ति ही गतिहीन हो जायेगी। यह कुछ ऐसा ही है। इस प्रकार, पूँजी के विभिन्न रूपों में और उत्पादन व संचरण के अलग-अलग क्षेत्रों में एक साथ मौजूदगी का आधार पूँजी की तरलता, एक रूप से दूसरे रूप में निरन्तर उसका रूपान्तरण बन जाता है, जो बाधित हुआ और बाधित ही रहा तो पूँजी का एक साथ अलग-अलग रूपों में और अलग-अलग क्षेत्रों में अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ जाता है। इस प्रकार क्रमिकता का तत्व ही समकालिकता के तत्व का आधार होता है। *जो बात अलग-अलग वैयक्तिक पूँजियों पर लागू होती है, वही बात कुल सामाजिक पूँजी पर भी लागू होती है।*

मार्क्स लिखते हैं:

> "इस प्रकार, कुल मिलाकर, पूँजी अपने विभिन्न चरणों में एक साथ मौजूद, और स्थानिक तौर पर सह-अस्तित्वमान रहती है। लेकिन उसका हर हिस्सा एक चरण या प्रकार्यात्मक रूप से दूसरे में संक्रमण कर रहा होता है, और इस प्रकार वह बारी-बारी से इन सभी चरणों या रूपों में सक्रिय होता है। *इसलिए ये रूप तरल रूप हैं, और उनकी समकालिकता उनकी क्रमिकता द्वारा व्यवहित होती है।* हर रूप अन्य रूपों के पहले भी मौजूद होता है और उनके बाद भी, जिसके चलते पूँजी के एक हिस्से की किसी एक रूप में वापसी किसी अन्य हिस्से की किसी अन्य रूप में वापसी द्वारा निर्धारित होती है। हर हिस्सा अपने पथ को निरन्तर प्रदर्शित करता है, लेकिन यह हमेशा पूँजी का बस एक अन्य हिस्सा होता है, जो अपने आपको इस रूप में पाता है, और ये विशिष्ट परिपथ बस समूची प्रक्रिया के समकालिक और क्रमिक क्षणों को संघटित करते हैं।
>
> "इन तीनों परिपथों की एकता में ही समूची प्रक्रिया की उस बाधा के बजाय निरन्तरता वास्तवीकृत होती है, जिस बाधा की हमने ऊपर पहचान की है। कुल सामाजिक पूँजी के पास हमेशा यह निरन्तरता होती है, और इसकी प्रक्रिया हमेशा तीनों परिपथों की एकता को अपने भीतर समेटे होती है।" (*वही*, पृ. 184, *ज़ोर हमारा*)

मार्क्स बताते हैं कि वैयक्तिक पूँजियों के लिए यह प्रक्रिया बहुत से कारणों से बाधित होती रहती है, मसलन, बाज़ार में उत्पादन के तत्वों का उपयुक्त मात्रा व अनुपात में न मिलना, उत्पादित माल का न बिकना, उत्पादन की शाखा का चरित्र ही मौसमी होना, आदि। लेकिन कुल सामाजिक पूँजी की समूची गति के चरित्र को अलग-अलग वैयक्तिक पूँजियों के परिपथ में आने वाली बाधाएँ या अवरुद्धता या अलग-अलग उत्पादन की शाखाओं में मौजूद अन्तर निर्णायक रूप से प्रभावित नहीं करते हैं। यह बिल्कुल सम्भव है कि कुछ पूँजियों की गति अवरुद्ध हो जाये, लेकिन कुल सामाजिक पूँजी की गति उससे निर्णायक तौर पर प्रभावित न हो।

मार्क्स बताते हैं कि पूँजी को केवल गति में ही

(पेज 13 पर जारी)

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(पेज 12 से आगे)

समझा जा सकता है। इस गति में जो चीज़ निहित होती है वह है कई पूँजियों का आपस में अन्तर्गुन्थन, उनकी प्रतिस्पर्द्धा, अराजकता और अनिश्चितता। जब हम एक वैयक्तिक पूँजी की गति को उसके तीनों परिपथों की गति में सम्पूर्णता में देखते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि पूँजी का निवेश, उसका मूल्य-संवर्धन और मुद्रा-रूप में उसका वास्तवीकरण पूँजीपति के मनोगत निर्णयों पर निर्भर है। लेकिन जब समूची सामाजिक पूँजी की गति का अध्ययन किया जाता है, तो यह बात ज़ाहिर हो जाती है कि *संचरण के क्षेत्र में पूँजी-मूल्य वैयक्तिक पूँजीपतियों की इच्छा से स्वायत्त और स्वतन्त्र हो जाता है।* मूल्य का यह स्वायत्तीकरण वास्तव में और कुछ नहीं बल्कि आम तौर पर औद्योगिक पूँजी की गति में अन्तर्निहित गुण है। एक पूँजी के परिपथ को देखने पर यह लग सकता है कि हम मूल्य के संरक्षण, उसके संवर्धन और मुद्रा-रूप में वास्तवीकरण को देख रहे हैं जो पूँजीपति के मनोगत निर्णयों के नियन्त्रण में है। *लेकिन यह केवल प्रक्रिया का औपचारिक रूप मात्र है।* वास्तव में, संचरण के क्षेत्र में पूँजीपति पहले उत्पादन के साधनों की ख़रीद और श्रमशक्ति की ख़रीद के लिए अन्य पूँजीपतियों के साथ विनिमय करता है, मज़दूरों के साथ विनिमय करता है और आगे संवर्धित मूल्य से लैस माल-पूँजी का वास्तवीकरण करने के लिए फिर से ग्राहकों (जो मज़दूर या पूँजीपति या दोनों हो सकते हैं) से विनिमय करता है और ये वे क्षेत्र हैं जहाँ पूँजीपति महज़ औपचारिक या रूपगत तौर पर स्वतन्त्र होता है। वास्तव में, तमाम पूँजियों की आपसी अन्तर्क्रिया सामाजिक पैमाने पर मूल्य की गति में ऐसे उतार-चढ़ाव ला सकती है, जो वैयक्तिक पूँजीपतियों की इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। लेकिन मूल्य की गति में होने वाले इन उतार-चढ़ावों का यह अर्थ नहीं है कि कुल सामाजिक पूँजी की गति ही अवरुद्ध हो जायेगी या रुक जायेगी। इन उतार-चढ़ावों और विक्षोभ के बावजूद कुल सामाजिक पूँजी का प्रवाह तब तक जारी रह सकता है, जब तक इन उतार-चढ़ावों पर कुल सामाजिक पूँजी की गति काबू पा लेती है या ये उतार-चढ़ाव एक-दूसरे को प्रति-सन्तुलित कर देते हैं। यह बिल्कुल मुमकिन है कि इस प्रक्रिया में कई वैयक्तिक पूँजीपति तबाह हो जायें और मूल्य की गति में आने वाले इस विक्षोभ को न झेल पाएँ, हालाँकि जब हम अलग से उनकी पूँजियों की गति को देखते हैं, तो वे उस गति के स्वामी *प्रतीत* होते हैं। मूल्य के स्वायत्तीकरण (autonomization) का यही अर्थ है, यानी पूँजी के रूप में मूल्य का वैयक्तिक पूँजीपतियों की नियन्त्रण से स्वायत्त हो जाना, जो पूँजी की गति के कारण ही बढ़ता है और क़ायम रहता है।

पूँजी के रूप में मूल्य की तुलना स्वयं मूल पूँजी-मूल्य से ही होती है। यानी पूँजी के परिपथ में पूँजी-मूल्य विभिन्न रूपों व चरणों से गुज़रता है और उसके मूल्य-संवर्धन की और इस प्रकार पूँजी के रूप में उसके अस्तित्व और प्रकार्य का निर्धारण स्वयं मूल पूँजी-मूल्य से तुलना के ज़रिये ही किया जा सकता है। यानी, जितना मूल्य पूँजी के रूप में मूलत: निवेशित किया गया था वह पूँजी के परिपथ की प्रक्रिया में संरक्षित और संवर्धित हो रहा है या नहीं, यही इस बात का पैमाना है कि मूल्य ने पूँजी का रूप ग्रहण किया है या नहीं। और मूल्य पूँजी का रूप ग्रहण तभी करता है जबकि पूँजी के रूप में उसका निवेश उस विशेष माल को ख़रीदने के लिए किया जाये जो स्वयं मूल्य को पैदा करता है: यानी श्रमशक्ति, जिसका ख़र्च होना ही जीवित श्रम है, जो स्वयं मूल्य पैदा करने वाला पदार्थ है।

मार्क्स बताते हैं कि पूँजी के परिपथ के सूत्र पर शुद्धता में विचार करने के लिए हमने अन्य तमाम कारकों को स्थिर मान लिया है। मसलन, हमने माना है कि माल अपने मूल्य पर बिक रहे हैं। यानी वैयक्तिक स्तर पर मूल्य और क़ीमत में अन्तर की परिघटना को हमने नज़रन्दाज़ कर दिया है। उसी प्रकार, हम यह भी मानकर चल रहे हैं कि पूँजी के परिपथ के गतिमान रहने के दौरान उत्पादन के साधनों, श्रमशक्ति के मूल्य, आदि में कोई अन्तर नहीं आ रहा है। अगर ये बढ़ते हैं, तो पूँजीपति को अपनी पूँजी के परिपथ को जारी रखने के कुछ अतिरिक्त पूँजी का निवेश करना पड़ सकता है। और अगर इसका उल्टा होता है तो कुछ पूँजी मुक्त हो सकती है, जिसे पूँजीपति संचित कर सकता है या कहीं और लगा सकता है। मार्क्स बताते हैं कि यदि उत्पादन के साधन सस्ते हो जाते हैं और कुछ पूँजी मुक्त होती है, तो पूँजीपति उसका इस्तेमाल इस पूँजी का भण्डार निर्मित करने में कर सकता है, जिसका वह आगे उसी उत्पादन शाखा या कहीं और निवेश कर सकता है, या फिर वह अपने पुनरुत्पादन के पैमाने को विस्तारित कर सकता है, या फिर वह कच्चे मालों को अधिक मात्रा में ख़रीदकर भण्डारित कर सकता है। यदि इसका उल्टा होता है, यानी अगर उत्पादन के साधन महँगे हो जाते हैं तो फिर पूँजीपति या तो पुनरुत्पादन को सीमित कर सकता है, या अतिरिक्त पूँजी लगाकर उत्पादन के पैमाने का बरक़रार रख सकता है, या फिर भविष्य में उत्पादन के पैमाने के विस्तार के लिए निर्मित किये जा रहे सुषुप्त पूँजी के भण्डार को ख़र्च किया जा सकता है। और भी कई परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जिनका पूँजी के परिपथों पर असर पड़ सकता है। मसलन, अगर भण्डारित किये गये कच्चे माल के मूल्य में कमी या बढ़ोत्तरी होती है, तो उसका असर भी उत्पादित माल के मूल्य पर पड़ेगा, या उत्पादित माल-उत्पाद के सामाजिक मूल्य में बाज़ार में किसी भी कारण से अन्तर आता है तो माल-उत्पाद का मूल्य भी बदलेगा। अगर उत्पादन के साधनों का मूल्य उत्पादित माल के बिकने के पहले गिरता या चढ़ता है, तो भी उत्पादित माल के मूल्य में अन्तर आ जाता है क्योंकि हर नयी पूँजी उत्पादन के साधनों को नये मूल्य पर ख़रीदती है और मालों का मूल्य सामाजिक रूप से तय होता है।

उत्पादन की प्रक्रिया में पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के साथ ये उतार-चढ़ाव और विक्षोभ आते ही आते हैं, जिनसे निपटने के लिए पूँजीपति के पास मुद्रा-पूँजी का एक रिज़र्व भण्डार अवश्य होना चाहिए या उसके पास उधार प्राप्त करने की क्षमता होनी चाहिए। साथ ही, पूँजीवादी उत्पादन का आम नियम यह होता है कि अलग-अलग पूँजियों के उत्पादन के पैमाने का विस्तार भी होता है। *इसलिए भी पूँजीवादी व्यवस्था के विकास के साथ यह अनिवार्य होता जाता है कि औद्योगिक पूँजीपति स्वयं एक बड़ा मुद्रा-पूँजीपति भी हो, यानी उसके पास मुद्रा-पूँजी का बड़ा भण्डार हो।*

यहाँ पर एक और बात ग़ौरतलब है जिसकी ओर मार्क्स ध्यान आकर्षित करते हैं। वह बताते हैं कि $M - C <^{L}_{mp}$ जिस हद तक $M - C (mp)$ है, यानी जिस हद तक वह उत्पादन के साधनों की ख़रीद है, तो वह उत्पादन के साधनों को बेचने वाले पूँजीपति के लिए $C' - M'$ है, यानी उसके उत्पादित माल का वास्तवीकरण, या उसका मुद्रा-पूँजी में तब्दील होना है। यह स्थिति पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के विकसित होने के साथ प्रमुख पहलू बन जाती है कि उत्पादन के अधिकांश साधन पूँजीवादी माल उत्पादन के दायरे में आते जाते हैं। लेकिन उन्नत से उन्नत पूँजीवादी उत्पादन में भी यह सम्भव होता है कि उत्पादन के कुछ साधन, विशेष तौर पर कच्चा माल, प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में पैदा हुए हों और पूँजीपति आम माल-बाज़ार से उन्हें ख़रीद रहा हो। उसी प्रकार, पूँजीपति की आय और मज़दूर की मज़दूरी का विनिमय भी ऐसे उपभोग के मालों से हो रहा हो जो प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में हो रहा हो, यह भी सम्भव है और अक्सर होता ही है। इस प्रकार, पूँजी का और साथ ही मज़दूर की मज़दूरी व पूँजीपति की आय के एक हिस्से का विनिमय प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में पैदा होने वाले वैयक्तिक उपभोग वाले उत्पादों के साथ हो रहा हो, यह भी कतई मुमकिन है और अक्सर ऐसा होता ही है। वास्तव में, एक विश्व बाज़ार की मौजूदगी में ऐसा होता ही है।

लेकिन यहाँ दूसरी ग़ौरतलब बात यह है कि जहाँ तक उत्पादन के साधनों की पूँजीपति द्वारा ख़रीद का प्रश्न है, जैसे ही माल-बाज़ार से प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन-पद्धतियों में पैदा हुए ये माल ख़रीद लिए जाते हैं वैसे ही वे साधारण माल नहीं रह जाते बल्कि पूँजीपति की उत्पादक-पूँजी का अंग बन जाते हैं। साथ ही, इन उत्पादन के साधनों का बार-बार उत्पादन व मालों के रूप में उनका उत्पादन अनिवार्य होता जाता है, क्योंकि पूँजीपति इन मालों के उत्पादक-उपभोग में ख़र्च होने के बाद दोबारा उन्हें ख़रीदता है। इसलिए एक ओर जहाँ पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति उसके इर्द-गिर्द कोनों-अँतरों में मौजूद अन्य उत्पादन-पद्धतियों से प्रभावित होती है, वहीं वह उन्हें प्रभावित भी करती है और उन्हें पूँजीवादी उत्पादन के दायरे में खींचती जाती है।

उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि पूँजीवादी उत्पादन हेतु उत्पादन के साधनों की ख़रीद पूँजीपति द्वारा हमेशा बड़े पैमाने पर की जाती है क्योंकि पूँजीवादी उत्पादन प्रकृति से बड़े पैमाने का उत्पादन होता है। इसलिए वह छोटे-छोटे साधारण माल उत्पादकों से सीधे ख़रीद कर ही नहीं सकता, क्योंकि व्यक्तिगत तौर पर वे इतनी बड़ी मात्रा में ये माल मुहैया करा ही नहीं सकते। आम तौर पर, पूँजीपति यह माल व्यापारिक पूँजीपति से ख़रीदता है जो कि न सिर्फ़ पूँजीवादी माल-उत्पादकों से माल ख़रीदता है, बल्कि हर प्रकार की उत्पादन-पद्धति में लगे उत्पादकों से माल ख़रीदता है। इसलिए औद्योगिक पूँजीपति द्वारा ख़रीदे जाने से पहले ही ये माल पूँजी का अंग बन जाते हैं, या व्यापारिक पूँजीपति की माल-पूँजी में तब्दील हो जाते हैं। व्यापारिक पूँजीपति औद्योगिक पूँजीपतियों से भी माल ख़रीदते हैं, लेकिन यह रिश्ता उस रिश्ते से अलग होता है जो व्यापारिक पूँजीपति और साधारण माल-उत्पादक के बीच होता है। पहला रिश्ता, दो पूँजीपतियों के बीच का रिश्ता है और व्यापारिक पूँजीपति को अपना माल बेचते समय औद्योगिक पूँजीपति अपने ही लिए काम करने वाला व्यापारी भी होता है। वह निचोड़े गये बेशी मूल्य का एक हिस्सा व्यापारिक पूँजीपति को व्यापारिक मुनाफ़े के तौर पर देता है और यह बात उसे चुभती भी नहीं है क्योंकि अगर उसे अन्तिम उपभोक्ताओं को अपना माल ख़ुद बेचना पड़ता तो उसके भी अपने ख़र्च होते और वे ख़र्च इस व्यापारिक मुनाफ़े की तुलना में ज़्यादा होते, जो वह निचोड़े गये बेशी मूल्य में से व्यापारी को देता है। लेकिन साधारण माल उत्पादक उजरती श्रम का शोषण कर बेशी मूल्य नहीं निचोड़ता है और उसके माल को उसके मूल्य से कम क़ीमत पर असमान विनिमय के तहत व्यापारी ख़रीदता है और इस प्रक्रिया में न सिर्फ़ उसका समूचा बेशी श्रम निचोड़ लेता है, बल्कि कई बार उसके आवश्यक श्रम का एक हिस्सा भी निचोड़ लेता है। जो भी हो व्यापारिक पूँजीपति के हाथों में आने के बाद ये माल उसकी माल-पूँजी का हिस्सा होते हैं और औद्योगिक पूँजीपति को बिकने के पहले ही ये माल पूँजी का हिस्सा बन चुके होते हैं। पूँजीवादी उत्पादन बड़े पैमाने का उत्पादन होता है और इसलिए ऐसा ही हो सकता है। इसीलिए जैसे-जैसे पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति का विकास होता है, वैसे-वैसे व्यापारिक पूँजी का भी विकास होता जाता है।

प्रसंगातर करते हुए मार्क्स याद दिलाते हैं कि *पूँजी* के दूसरे खण्ड में जब भी हम मुद्रा का ज़िक्र कर रहे हैं तो हम धात्विक मुद्रा और उसके प्रतीकों की ही बात कर रहे हैं क्योंकि पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के विकास के शुरुआती दौर में यही मुद्रा प्रचलन में थी और साथ ही जब हम पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के विकास के उत्तरवर्ती दौर में क्रेडिट मुद्रा व स्वर्ण-असमर्थित शुद्ध कागज़ी मुद्रा की बात करते हैं, तो भी हम उसके नियमों को तभी समझ पाते हैं, जब हम यह कल्पना करते हैं कि यदि धात्विक मुद्रा ही प्रचलन में होती तो उसकी कौन-सी मात्रा मालों के आम संचरण के लिए उपयुक्त होती। *पूँजी* के तीसरे खण्ड में मार्क्स क्रेडिट मुद्रा के कुछ ऐसे रूपों की चर्चा करते हैं जो उस दौर में अस्तित्व में आ चुके थे। इसलिए अभी मुद्रा के इन उत्तरवर्ती रूपों पर चर्चा करने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है और पूँजीवादी पुनरुत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया को धात्विक मुद्रा के सन्दर्भ में ही सरलता से समझा जा सकता है। उसके बाद हम क्रेडिट मुद्रा के विभिन्न रूपों के उद्भव के साथ इस प्रक्रिया में होने वाले परिवर्तनों को भी समझ सकते हैं। इसलिए जब हम पूँजीवादी पुनरुत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया को समझते हैं, तो उसके अनुसार मालों के संचरण के लिए आवश्यक मुद्रा की मात्रा का निर्धारण उन्हीं कारकों से होता है जिनकी चर्चा हम पहले खण्ड में कर चुके हैं: यानी, समस्त मालों की कुल क़ीमत, मुद्रा का वेग और मुद्रा का मूल्य।

मार्क्स बताते हैं कि जब हम समूची पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के पुनरुत्पादन की बात करते हैं, तो उसे केवल वैयक्तिक पूँजियों के बीच होने वाली अन्तर्क्रिया के रूप में नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि जब हम पूँजीपति द्वारा उत्पादन के साधनों की ख़रीद की बात करते हैं, तो आवश्यक नहीं कि वह दो पूँजीपतियों के बीच होने वाला विनिमय ही हो; वह पूँजीपति और एक ग़ैर-पूँजीवादी उत्पादक के बीच होने वाला विनिमय भी हो सकता है; उसी प्रकार, पूँजीपति द्वारा श्रमशक्ति की ख़रीद भी दो पूँजीपतियों के बीच होने वाला विनिमय नहीं होता है; साथ ही, जब पूँजीपति अपना ऐसा माल बेचता है जो कि उपभोक्ता सामग्री होते हैं, तो उसके ख़रीदारों में मज़दूर व ग़ैर-पूँजीवादी उत्पादक वर्ग भी शामिल होते हैं; यह भी दो पूँजीपतियों के बीच होने वाला विनिमय नहीं है; इसके अलावा, अगर कोई पूँजीपति उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करता है, तो उसके माल को ख़रीदने वाला पूँजीपति भी अक्सर अपनी पूँजी नहीं बल्कि अपनी आय के साथ उसके माल का विनिमय करता है, यानी निचोड़े गये बेशी मूल्य के उस हिस्से का जिसे पूँजी में तब्दील नहीं किया गया और जिसे पूँजीपति अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिए अपनी आमदनी के तौर पर रखता है; यहाँ भी यह ग्राहक पूँजीपति के तौर पर ख़रीदारी नहीं कर रहा है, बल्कि एक व्यक्तिगत उपभोक्ता के तौर पर ख़रीदारी कर रहा है। यहाँ मार्क्स यह बताने का प्रयास कर रहे हैं कि जब हम सामाजिक स्तर पर पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के पुनरुत्पादन की स्थितियों की जाँच करते हैं तो केवल पूँजियों के आपसी रिश्तों, उनके अन्तर्गुन्थन और विनिमय को ही समझना पर्याप्त नहीं है क्योंकि यहाँ पूँजीपति का उत्पादक उपभोग और व्यक्तिगत उपभोग, मज़दूर का व्यक्तिगत उपभोग और नतीजतन उत्पादक सामग्री और उपभोक्ता सामग्री के समानुपातिक उत्पादन व विनिमय की जाँच करनी होगी; नतीजतन, पूँजी और आय दोनों के प्रवाह को समझना होगा। तभी समूची पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के पुनरुत्पादन की स्थितियों को समझा जा सकता है। इसलिए मार्क्स लिखते हैं:

> "व्यक्तिगत पूँजियाँ कुल सामाजिक पूँजी की स्वतन्त्र रूप से गतिमान अंग मात्र होती हैं और जिस रूप में कुल सामाजिक पूँजी के विभिन्न अंग संचरण की प्रक्रिया में बारी-बारी से एक-दूसरे का स्थान लेते हैं – पूँजी और बेशी मूल्य दोनों के ही सन्दर्भ में – वह केवल रूपान्तरणों के उस सरल अन्तर्गुन्थन का नतीजा नहीं होता

(पेज 14 पर जारी)

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(पेज 13 से आगे)

है जो माल संचरण में होता है, और जो पूँजी संचरण की कार्रवाइयों और माल संचरण की सभी प्रक्रियाओं में साझा होता है, बल्कि यह जाँच की एक अलग पद्धति की माँग करता है। अब तक इस मामले में बस जुमलों को पर्याप्त माना गया है, हालाँकि जब इनका अधिक क़रीबी से विश्लेषण किया जाता है, तो हम पाते हैं कि उनमें अस्पष्ट धारणाओं के अलावा कुछ भी नहीं है, जिन्हें उन रूपान्तरणों के अन्तर्गुन्थन से उधार ले लिया गया है जो सभी माल संरचणों में मौजूद होते हैं।" (*वही,* पृ. 194)

पूँजी के दूसरे खण्ड में मार्क्स इसी बुनियादी सवाल को हल करते हैं कि पूँजीवादी उत्पादन में उपयोग-मूल्यों और मूल्यों का प्रवाह किस रूप में होता है, पूँजी और बेशी मूल्य का प्रवाह किस रूप में होता है, मुनाफ़ा और आय के विभिन्न रूपों का प्रवाह किस रूप में होता है और वे कौन-सी स्थितियाँ होती हैं जिनमें ये प्रवाह समानुपातिक हों, एक-दूसरे को सन्तुलित करते हों। दूसरे शब्दों में, वे कौन-सी स्थितियाँ होती हैं जिनमें पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था अपने आपको सुगमता से पुनरुत्पादित कर पाती है। ज़ाहिर है, मार्क्स यह नहीं कह रहे कि ये स्थितियाँ पूँजीवाद में आम तौर पर मौजूद होती हैं। उल्टे मार्क्स का बुनियादी तर्क यह है कि जब तक हम यह नहीं समझ सकते कि किन स्थितियों में पूँजीवादी व्यवस्था अपने आपको सुगमता से पुनरुत्पादित कर सकती है, तब तक हम यह भी नहीं समझ सकते कि किन स्थितियों में वह अपना पुनरुत्पादन सुगमता से नहीं कर पाती या फिर कर ही नहीं पाती है। इस दूसरे खण्ड में हम भी मार्क्स का अनुसरण करते हुए इसी बुनियादी सवाल को हल करेंगे। लेकिन उससे पहले हमें बहुत-सी बुनियादी अवधारणाओं को समझना होगा जो वहाँ तक पहुँचने के लिए अनिवार्य हैं।

मार्क्स संक्षेप में प्राकृतिक अर्थव्यवस्था, मौद्रिक अर्थव्यवस्था और क्रेडिट अर्थव्यवस्था के बारे में बात करते हैं और बताते हैं कि माल उत्पादन की शुरुआत के साथ अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों में अलग-अलग हद तक मौद्रिक अर्थव्यवस्था का विकास हुआ और माल उत्पादन के सामाजिक रूप धारण करने के साथ यह विकसित होती रही; पूँजीवादी माल उत्पादन के विकास के साथ यह एक गुणात्मक रूप से नये चरण में पहुँची। क्रेडिट अर्थव्यवस्था वास्तव में इसी मौद्रिक अर्थव्यवस्था के आधार पर विकसित होती है और उसी से निगमित होती है। मौद्रिक अर्थव्यवस्था पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के शुरुआती दौर को निर्दिष्ट करती है, जबकि क्रेडिट अर्थव्यवस्था पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास के उत्तरवर्ती दौर को निर्दिष्ट करती है और स्वयं मौद्रिक अर्थव्यवस्था की बुनियाद पर ही विकसित होती है। मौद्रिक अर्थव्यवस्था से क्रेडिट अर्थव्यवस्था का विकास महज़ वाणिज्य की पद्धति में आने वाला बदलाव है, उत्पादन की पद्धति में आने वाला बदलाव नहीं, जबकि प्राकृतिक अर्थव्यवस्था उत्पादन-पद्धति के तौर पर मौद्रिक व क्रेडिट अर्थव्यवस्था से अलग व्यवस्था है।

स्वयं पूँजीवादी माल उत्पादन उसी हद तक विकसित होता है जिस हद तक अधिक से अधिक श्रम के उत्पाद मालों में तब्दील होते जाते हैं और स्वयं श्रमशक्ति मालों में तब्दील होती जाती है। श्रमशक्ति के माल में तब्दील होने के साथ मज़दूर और पूँजीपति का सम्बन्ध अस्तित्व में आता है, जो कि प्रतीतिगत तौर पर वाणिज्य की एक विशिष्ट पद्धति पर आधारित विनिमय का एक साधारण रूप नज़र आता है; लेकिन यह रिश्ता वास्तव में उत्पादन के एक विशिष्ट रूप, एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति पर आधारित होता है; यह वाणिज्य की एक विशिष्ट व्यवस्था पर आधारित विनिमय का एक साधारण रूप मात्र नहीं होता है, जैसे कि किन्हीं भी दो माल-उत्पादकों में होता है। यह सम्बन्ध ही समूची पूँजीवादी व्यवस्था की नींव में होता है और उसके चरित्र को निर्धारित करता है। इसके आगे मार्क्स एक बात कहते हैं जो आज के मार्क्स की *पूँजी* पर अकादमिक पुस्तकें लिखने वाले तमाम अध्येताओं पर लागू होती है, जो उत्पादन-सम्बन्धों के ऊपर विनिमय-सम्बन्धों को तरजीह देते हैं या दोनों को समान महत्व का मानते हैं, मसलन, दुखद व त्रासद होने की हद तक लोकप्रिय "पूँजी-विशेषज्ञ" डेविड हार्वी की पुस्तक, जिसे पढ़ने के बाद *पूँजी* को समझने का कार्यभार और दुरूह हो जाता है। मार्क्स कहते हैं:

> *"पूँजीपति और उजरती मज़दूर के बीच सम्बन्ध में, मुद्रा सम्बन्ध, क्रेता और विक्रेता का सम्बन्ध, स्वयं उत्पादन में अन्तर्निहित एक सम्बन्ध बन जाता है। लेकिन यह सम्बन्ध बुनियादी तौर पर उत्पादन के सामाजिक चरित्र पर निर्भर करता है, न कि वाणिज्य के किसी रूप पर; वाणिज्य की पद्धति उत्पादन के चरित्र से निगमित होती है।* इसके अलावा, जहाँ व्यावसायिक सौदे लोगों के मस्तिष्कों को पूरी तरह से भर देते हैं, वहाँ बुर्जुआ क्षितिज की यह विशिष्टता होती है कि वह उत्पादन पद्धति की बुनियाद को वाणिज्य की पद्धति में देखता है, बजाय इसके उलट मसले को सही रूप में देखने के।" (*वही,* पृ. 196, *ज़ोर हमारा*)

इसके बाद, हम मार्क्स का ही अनुसरण करते हुए पूँजीवादी पुनरुत्पादन की स्थितियों और उसकी केन्द्रीय समस्या का ज़िक्र कर इस चर्चा को यहाँ रोक देंगे और फिर उन बुनियादी अवधारणाओं का अध्ययन करेंगे जो इस केन्द्रीय समस्या के हल के लिए आवश्यक है।

मार्क्स कहते हैं पूँजीवादी व्यवस्था में माँग और आपूर्ति और उनके मिलान की बुनियादी स्थिति को समझने के लिए हमें सामाजिक माँग के निर्मित होने और उसकी आपूर्ति के निर्मित होने के प्रश्न को समझना होगा। इसके लिए सबसे पहले यह समझना आवश्यक है कि पूँजीपति मालों के संचरण से जितने मालों को ख़रीदता है, वह उससे ज़्यादा मूल्य के मालों को वापस संचरण में डालता है। ऊपरी तौर पर, उसका तर्क वही है जो एक व्यापारी का होता है: यानी, सस्ता ख़रीदो, महँगा बेचो। लेकिन उसकी कार्यप्रणाली व्यापारी से बिल्कुल भिन्न है। वह सस्ता ख़रीदने और महँगा बेचने में इसलिए सक्षम नहीं होता क्योंकि वह असमान विनिमय करता है। पूँजीपति सस्ता ख़रीदने और महँगा बेचने में इसलिए सक्षम होता है क्योंकि उसके पास एक ऐसा माल होता है जो ख़र्च होने की प्रक्रिया में ही अपने मूल्य से ज़्यादा मूल्य का निर्माण करता है, यानी श्रमशक्ति, जिसके शोषण के ज़रिये पूँजीपति स्वयं श्रमशक्ति के मूल्य से ज़्यादा मूल्य मज़दूरों से पैदा करवाता है और इस बेशी मूल्य को हस्तगत करता है। ठीक इसी वजह से पूँजीपति जितने मूल्य के मालों को मालों के संचरण के क्षेत्र से निकालता है, उससे ज़्यादा मूल्य के माल वह संचरण के क्षेत्र में डालता है। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता तो वह पूँजीपति ही नहीं है और न ही उसके पास मौजूद मुद्रा पूँजी बन पायी है। इसलिए पूँजीपति की आपूर्ति हमेशा उसकी माँग से ज़्यादा होती है और पूँजीपति हमेशा इस अन्तर को बढ़ाने का प्रयास करता है। मार्क्स लिखते हैं:

> "पूँजीपति की आपूर्ति और उसकी माँग में अन्तर जितना बड़ा होगा, यानी जितने मूल्य के मालों की वह माँग पेश करता है उसके द्वारा आपूर्ति किये जाने वाले मालों का मूल्य उससे जितना ज़्यादा होगा, उतनी ही ज़्यादा दर पर वह अपनी पूँजी का मूल्य-संवर्धन कर पायेगा। उसका लक्ष्य अपनी आपूर्ति के द्वारा केवल अपनी माँग की पूर्ति करना नहीं है, बल्कि अपनी माँग के ऊपर अधिक से आपूर्ति करना है।" (*वही,* पृ.197)

मार्क्स कहते हैं कि यह एक पूँजीपति पर भी लागू होता है और यह आम तौर पर समूचे पूँजीपति वर्ग पर भी लागू होता है। पूँजीपति की उत्पादन के साधनों के लिए माँग हमेशा उसकी कुल पूँजी से छोटी होती है, जो ज़ाहिर-सी बात है। नतीजतन, यह भी सहज समझा जा सकता है कि मूल्य के अर्थों में पूँजीपति की उत्पादन के साधनों के लिए माँग उसके कुल माल-उत्पाद की आपूर्ति से और भी ज़्यादा छोटी होती है। इसके अलावा, पूँजीवादी उत्पादन का नियम होता है पूँजी संचय, जिसका एक परिणाम यह भी होता है कि उत्पादन के साधन की तुलना में श्रमशक्ति की माँग सापेक्षिक तौर पर घटती है क्योंकि पूँजी का आवयविक संघटन यानी स्थिर पूँजी और परिवर्तनशील पूँजी का अनुपात बढ़ता है। अगर हम मज़दूरों की माँग की बात करें तो वह इस परिवर्तनशील पूँजी के आकार से ही तय होती है, वह उससे अधिक किसी भी रूप में नहीं हो सकती है। पूँजीपति की कुल अधिकतम माँग उसके द्वारा उत्पादन के साधनों की माँग और श्रमशक्ति की माँग के आधार पर तय होती है। यानी, पूँजीपति की कुल अधिकतम माँग होती है $C = c + v$, जहाँ C उसके द्वारा निवेशित पूँजी है, c स्थिर पूँजी है और v परिवर्तनशील पूँजी है। लेकिन पूँजीपति की आपूर्ति होती है $c + v + s$, यानी उत्पादित मालों का कुल मूल्य जिसमें मूल पूँजी मूल्य के साथ बेशी मूल्य शामिल होता है। मार्क्स इसे एक उदाहरण के ज़रिये समझाते हैं:

> "इस प्रकार, अगर उसकी माल पूँजी का संघटन है $80c + 20v + 20s$ तो उसकी माँग है $80c + 20v$ जो कि मूल्य में उसकी आपूर्ति से 1/5 कम है। पैदा होने वाले s का प्रतिशत (मुनाफ़े की दर) जितना ज़्यादा होगा, उसकी आपूर्ति की तुलना में उसकी माँग उतनी ही कम होगी। हालाँकि, जैसे-जैसे उत्पादन प्रगति करता है, श्रमशक्ति के लिए पूँजीपति की माँग, और इसलिए अप्रत्यक्ष तौर पर उपभोग के आवश्यक साधनों के लिए माँग, उत्पादन के साधन के लिए उसकी माँग के सापेक्ष कम होती जाती है, लेकिन यह नहीं भूला जाना चाहिए कि उत्पादन के साधनों के लिए उसकी माँग प्रतिदिन के तौर पर आकलित की जाय तो उसकी पूँजी से हमेशा छोटी ही होगी। इस प्रकार उत्पदन के साधनों के लिए उसकी माँग मूल्य में हमेशा उस पूँजीपति के माल उत्पाद से भी कम होगी जो उसके बराबर पूँजी के साथ ही और समान परिस्थितियों में ही काम करता है, और उसे ये उत्पादन के साधन मुहैया करता है। इस तथ्य से इस मामले पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि उत्पादन के साधन की आपूर्ति करने में बस एक पूँजीपति नहीं, बल्कि कई पूँजीपति शामिल हैं। मान लें कि उसकी पूँजी 1000 पाउण्ड है, जिसका स्थिर हिस्सा 800 पाउण्ड है; तो उत्पादन के साधन पैदा करने वाले इन सभी पूँजीपतियों के लिए उसकी माँग हुई 800 पाउण्ड के बराबर। ये पूँजीपति मिलकर हर 1000 पाउण्ड के लिए...12 पाउण्ड की आपूर्ति करते हैं; इस प्रकार, मूल्य के अर्थों में, पहले पूँजीपति की माँग उत्पादन के साधन पैदा करने वाले इन पूँजीपतियों की आपूर्ति के केवल दो-तिहाई हिस्से को ही कवर करती है, जबकि स्वयं उसकी अपनी आपूर्ति के महज़ 4/5 हिस्से को ही कवर करती है।" (*वही,* पृ. 198)

मार्क्स यह नहीं कह रहे कि इसके कारण यहाँ एक ऐसा 'माँग अन्तर' पैदा हो जाता है जिसे भरा ही नहीं जा सकता। मार्क्स यहाँ बस उस समस्या की ओर इशारा कर रहे हैं जिसके पैदा होने और जिसके हल की स्थितियों को सिस्मोंदी से लेकर रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग और 'मंथली रिव्यू' स्कूल के अर्थशास्त्रियों जैसे तमाम अल्पउपभोगवादी नहीं समझ पाये। मार्क्स चलते-चलते बताते हैं कि हमने अभी *टर्नओवर* के सवाल को नहीं उठाया है, यानी कितने समय में पूँजीपति द्वारा निवेशित पूँजी उसके पास मुद्रा-रूप में वापस आ जाती है, लेकिन अभी इतना समझ लेना पर्याप्त है कि कुल माँग और कुल आपूर्ति के निर्माण की उपरोक्त स्थितियों में टर्नओवर के प्रश्न से कोई विशेष अन्तर नहीं आता है।

इसके बाद मार्क्स पुनरुत्पादन के प्रश्न पर आते हैं और कहते हैं कि पूँजीपति की कुल माँग को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है: पहला, पूँजीपति के रूप में उत्पादक उपभोग के मालों यानी उत्पादन के साधनों की उसकी माँग; और दूसरा, साँसारिक आनन्दों का उपभोग करने वाले व्यक्ति के तौर पर, यानी व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुओं को ख़रीदने वाले ग्राहक के तौर पर उसकी माँग। अगर हम साधारण पुनरुत्पादन की बात करें, जिसमें कि पूँजीपति निचोड़े गये समूचे बेशी मूल्य को व्यक्तिगत उपभोग पर ख़र्च कर देता है तो 'माँग-अन्तर' की समस्या पैदा ही नहीं होती क्योंकि न सिर्फ़ पूँजीपति की आपूर्ति $c + v + s$ के बराबर होती है, बल्कि उसकी माँग भी $c + v + s$ के बराबर हो जाती है। लेकिन पूँजीवादी उत्पादन का आम नियम होता है पूँजी का संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन। उस सूरत में बेशी मूल्य यानी s का एक हिस्सा संचित किया जाता है और तब तक संचित किया जाता रहता है जबकि इस संचित पिण्ड का आकार इतना न हो जाये कि उसे पूँजी में तब्दील किया जा सके, यानी किसी नयी मशीनरी, उत्पादन के पैमाने के विस्तार और नये मज़दूरों की श्रमशक्ति को ख़रीदने में लगाया जा सके। लेकिन नतीजतन पूँजीपति की माँग उसकी आपूर्ति से कम हो जाती है क्योंकि मुद्रा का एक हिस्सा संचरण के क्षेत्र से खींचकर संचित कर लिया गया है और यह कुल प्रभावी माँग में सापेक्षिक कमी लाता है, क्योंकि कुल आपूर्ति उतनी ही रहती है। यही समस्या पिछले दो दशकों से अल्पउपभोगवादी अर्थशास्त्रियों को सताती रही है: इस माँग-अन्तर को पूँजीवाद कैसे भर सकता है?

प्रतिक्रियावादी राजनीतिक अर्थशास्त्री व अल्पउपभोगवादी माल्थस ने कहा कि परजीवी वर्गों का अस्तित्व बनाये रखना ज़रूरी है क्योंकि ये भूस्वामी, सूदखोर आदि अपने उपभोग से इस माँग-अन्तर को भर देंगे; यह कोई समाधान नहीं था क्योंकि इन परजीवी वर्गों की आय यानी लगान व ब्याज स्वयं निचोड़े गये बेशी मूल्य का ही एक अंग होती है; प्रगतिशील अल्पउपभोगवादियों ने कहा कि अगर मज़दूरों व मेहनतकशों की आमदनी को राजकीय हस्तक्षेप व सुधार के ज़रिये बढ़ा दिया जाय तो यह माँग-अन्तर मज़दूरों व मेहनतकशों के उपभोग के द्वारा भरा जा सकता है; यह भी एक शेखचिल्ली का सपना है क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूरों की आय कभी उतनी नहीं बढ़ायी जा सकती कि बेशी मूल्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाये और मज़दूर कभी भी अपनी मज़दूरी से ज़्यादा उपभोग नहीं कर सकते, इसलिए 'माँग अन्तर' की समस्या का समाधान इस नुस्ख़े से भी नहीं होता; दूसरी बात, पूँजीपति हमेशा राज्यसत्ता के हस्तक्षेप द्वारा मेहनतकश जनता की आय को संवर्धित करने के प्रयासों का विरोध करते हैं क्योंकि यह मज़दूरों की ग़रज़मन्दी को कम करता है, औसत मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव पैदा करता है और पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर कोई भी पूँजीवादी राज्यसत्ता व सरकार एक सीमा के भीतर ही ऐसा सामाजिक ख़र्च कर सकती है और विशेष तौर पर मन्दी के दौरों में तो बिल्कुल ऐसा नहीं करती; *यह साधारण-सी बात हमारे देश में नामधारी मार्क्सवादी लेकिन वास्तव में कींसवादी व अल्पउपभोगवादी बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों मसलन प्रभात पटनायक, उत्सा पटनायक, सी.पी. चन्द्रशेखर, जयति घोष आदि को नहीं समझ में आती है जो सरकार के कान में सुधारवादी मन्त्र फूँकते रहते हैं कि 'मज़दूरों को कुछ ख़ैरात सामाजिक ख़र्च के रूप में दे दो, तो पूँजीवाद*

(पेज 15 पर जारी)

वोटचोरी : फ़ासीवाद की प्रयोगशाला से निकला सत्ता हथियाने का नया हथकण्डा!

● विवेक

'वोटचोरी' – यह शब्द भारत की राजनीति में फ़ासीवादी शक्तियों के उस हथकण्डे का पर्याय बन चुका है, जिसका इस्तेमाल कर भाजपा विभिन्न राज्यों और केन्द्र में सत्ता हथिया रही है। इस पूरी प्रक्रिया में भाजपा का साथ दे रहा है केंचुआ (केन्द्रीय चुनाव आयोग)! दूसरी तरफ देश की मुख्य विपक्षी चुनावबाज़ पार्टी कांग्रेस अपनी एक दशक की तन्द्रा तोड़ कर साक्ष्य जुटा कर, वोट चोरी की घटना को जनता के समक्ष प्रस्तुत भर कर रही है। इस बार भी राहुल गांधी ने बिहार में पहले चरण के मतदान से ठीक पहले आयोजित प्रेस कॉन्फ्रेंस में दावा किया कि हरियाणा में 25 लाख वोटों की चोरी हुई है, जिनमें 5.21 लाख डुप्लीकेट वोटर, 93,174 अवैध वोटर, और 19.26 लाख 'बल्क' वोटर (एक ही पते पर कई वोटर) शामिल थे। उन्होंने यह भी कहा कि हरियाणा की मतदाता सूची में हर आठ में से एक वोटर नकली पाया गया। बिहार विधानसभा चुनाव के अप्रत्याशित नतीजे इन आरोपों को और बल देते हैं कि भाजपा, चुनाव आयोग की मिलीभगत से, विभिन्न राज्यों में बड़े पैमाने पर वोटों में सेंधमारी कर रही है।

उल्लेखनीय है कि पिछले छह महीनों में कांग्रेस की यह दूसरी प्रेस कॉन्फ्रेंस थी जिसमें उसने वोट चोरी के मुद्दे पर साक्ष्यों के साथ खुलासे किये।

आख़िर क्यों भाजपा के लिए सत्ता में बने रहने के लिए वोटचोरी ज़रूरी बन चुकी है?

2014 में जब भाजपा केन्द्र की सत्ता में आयी थी, तब देश में एक हद तक "मोदी लहर" मौजूद थी, जो पूँजीपतियों द्वारा लुटाये गये करोड़ों-अरबों रुपये के बूते और गोदी मीडिया व आईटी सेल के आक्रामक प्रचार के बल पर तैयार हुई थी। नरेन्द्र मोदी को एक ऐसे महामानव के तौर पर पेश किया गया, जो बहुसंख्यक हिन्दू आबादी का "संरक्षक" है। भाजपा और संघ परिवार द्वारा संचालित साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति इस उभार का आधार थी। लेकिन 2020 के आसपास आते-आते मोदी की "सशक्त नेता" वाली छवि क्षीण होने लगी थी। कोरोना काल में केन्द्र सरकार की भारी अव्यवस्था और कुप्रबन्धन ने जनमानस में गहरा असन्तोष पैदा किया। इससे पहले नोटबन्दी की नौटंकी ने आम लोगों पर बेइन्तहा तकलीफ़ें लाद दी थीं। बेरोज़गारी, महँगाई, पेपर लीक, सीएए–एनआरसी और अन्य मुद्दों पर उभरते जनआन्दोलनों ने देश में भाजपा और मोदी सरकार के ख़िलाफ़ प्रतिरोध की लहर को और मज़बूती दी। अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर इन 4-5 सालों में भारत की विदेश नीति के चलते हुई फ़ज़ीहत ने तो शहरी मध्य वर्ग के बीच भी मोदी की लोकप्रियता को काफी नुकसान पहुँचाया है। न तो अब कोई "मोदी लहर" है और न ही 'मोदी कल्ट' का व्यापक प्रभाव।

जिस साम्प्रदायिक राजनीति के ज़रिये भाजपा सत्ता में पहुँची थी, उसका प्रभाव जनता के एक बड़े हिस्से में कम होने लगा था। इस गिरती लोकप्रियता का सबसे बड़ा संकेत 2024 के लोकसभा चुनाव में मिला, जहाँ भाजपा अकेले बहुमत का आँकड़ा भी नहीं छू पायी। कुछ समय के लिए तो केन्द्र में भाजपा सरकार का गठन ही संकट में पड़ गया था, लेकिन अन्ततः चंद्रबाबू नायडू और नीतीश कुमार के समर्थन के सहारे भाजपा दोबारा सत्ता में आ सकी।

इन सबसे बढ़कर सबसे मुख्य बात यह है कि आज भी भाजपा को देश के पूँजीपति वर्ग का एकमुश्त समर्थन हासिल है। इसके अलावा उसके पास संघ परिवार की शक्ल में काडर-आधारित संगठन का ऐसा ढाँचा और विचारधारा है जो उसे अन्य सभी ग़ैर-फ़ासीवादी दलों से आगे कर देता है। इसी संघ परिवार की मौजूदगी की वजह से पिछले लम्बे अरसे में फ़ासीवादी भाजपा ने न सिर्फ़ समाज के पोर-पोर में जड़ें मज़बूत की हैं बल्कि राज्यसत्ता के अलग-अलग निकायों और तमाम सरकारी और संवैधानिक संस्थाओं व प्रक्रियाओं में भीतर तक पैठ बनाकर, उन्हें अन्दर से खोखला कर दिया है। जो थोड़ी-बहुत जनवादी अन्तर्वस्तु इन पूँजीवादी जनवादी संस्थाओं में थी, वह भी अब लगातार ख़त्म होती जा रही है। जनवाद का केवल खोल बचा है। ये सारी संस्थाएँ अब फ़ासीवादी भाजपा के अधीनस्थ होकर इसके पक्ष में काम कर रही है।

इसलिए अब जब भाजपा की लोकप्रियता जनता के बीच घट रही है और साम्प्रदायिक प्रचार और ध्रुवीकरण के बल पर हिन्दू वोट बैंक साधने का दाँव पुराना पड़ने लगा है, तब भाजपा सत्ता में बने रहने के लिए इन सरकारी संस्थाओं का इस्तेमाल कर वोटचोरी जैसे कारनामों को अंजाम दे रही है। इसके पहले ईवीएम घोटाले के ज़रिये भी भाजपा यह काम करती रही थी।

पहले भी चुनावों में अपनी जीत सुनिश्चित करने के लिए भाजपा पर ईवीएम में धाँधली के आरोप लगते रहे थे। जब यह मामला व्यापक जनशंका और सार्वजनिक बहस का विषय बन गया, तो भाजपा – केन्द्रीय चुनाव आयोग की मिलीभगत से – अब ईवीएम घोटाले के साथ ही मतदाता सूची में ही सेंधमारी करने की दिशा में सक्रिय हो गयी है। यह जनता के सबसे बुनियादी राजनीतिक अधिकार पर प्राणान्तक हमला है।

बिहार में एसआईआर के ज़रिये वोटचोरी का नया प्रयोग और विपक्षी दलों की अकर्मण्यता

बिहार में भाजपा–जदयू की जीत केन्द्र में एनडीए की सरकार को बरकरार रखने के लिए ज़रूरी लग रही थी। अगर यहाँ सत्ता बदलकर नीतीश कुमार फिर से राजद के साथ जाते, तो केन्द्र की एनडीए सरकार भी अस्थिर हो सकती थी। इसी सम्भावित संकट को रोकने के लिए भाजपा के लिए बिहार में "हर हाल में जीत" सुनिश्चित करना बेहद ज़रूरी था। इसलिए इस बार वोटचोरी की पटकथा चुनाव से 6 माह पूर्व ही लिखी जानी शुरू हो चुकी थी।

मतदाता सूची में सेंधमारी के लिए भाजपा के इशारे पर केंचुआ (केन्द्रीय चुनाव आयोग) ने आनन-फ़ानन में बिहार में विशेष मतदाता पुनरीक्षण (SIR) प्रक्रिया शुरू कर दी थी। एक अगस्त को जारी हुई ड्राफ़्ट सूची में 65 लाख मतदाताओं के नाम हटाये गये। इस दौरान मुस्लिम आबादी वाले ज़िलों में सबसे अधिक नाम हटाये गये। जब अन्तिम सूची प्रकाशित हुई तब 3.66 लाख और नाम हटाये गये तथा 21.53 लाख नये मतदाता जोड़े गये। 30 सितम्बर की अन्तिम मतदाता सूची में कुल संख्या 7.42 करोड़ रही – जो एसआईआर शुरू होने के पहले की संख्या से 47 लाख कम थी!

अन्तिम सूची से हटाये गये 3.66 लाख मतदाताओं को आपत्ति दर्ज कराने का कोई अवसर तक नहीं दिया गया, जिससे यह सन्देह और गहरा होता है कि इन नामों को चुनकर हटाया गया। चुनाव आयोग का तर्क था कि एसआईआर का उद्देश्य उन लोगों के नामों की पहचान कर उन्हें हटाना था जो पड़ोसी देशों – म्यांमार, बांग्लादेश, नेपाल आदि – से अवैध रूप से आकर बिहार में रह रहे थे। लेकिन विडम्बना यह है कि खुद चुनाव आयोग ने स्वीकार किया कि बिहार में ऐसा एक भी अवैध प्रवासी मतदाता नहीं मिला!

स्पष्ट है कि 'विशेष मतदाता पुनरीक्षण' का फ़ायदा भाजपा को बिहार चुनाव में मिला। कुल 174 सीटों में जीत का अन्तर मतदाता सूची के विशेष गहन पुनरीक्षण के दौरान हटाये गये मतदाताओं की संख्या से कम रहा। इन 174 सीटों में से 75 सीटें ऐसी थीं जहाँ से एनडीए पिछले चुनाव में जीत नहीं पायी थी, लेकिन इस बार ये 75 सीटें उसे मिली हैं। एनडीए द्वारा जीती गयी 202 सीटों में से 128 ऐसी थीं, जहाँ सबसे ज़्यादा मतदाताओं के नाम हटाये गये थे। ये वही सीटें हैं जहाँ 'डिलिट किए वोटरों' की संख्या जीतने के मार्जिन से ज़्यादा है। अर्थात, एसआईआर के ज़रिये अगर बड़ी संख्या में मतदाताओं के नाम नहीं हटाये जाते तो इन 128 सीटों के परिणाम अलग भी हो सकते थे।

बिहार में किये गये एसआईआ के प्रयोग से मिली चुनावी जीत के बाद केंचुआ ने अब देश के बारह केन्द्र शासित प्रदेशों और राज्यों में एसआईआर करवाने की घोषणा की है। यह समझना मुश्किल नहीं है कि एसआईआर के बहाने कितने बड़े पैमाने पर मतदाता सूची में धाँधली का खेल चलेगा।

लेकिन इतना सबकुछ होने के बावजूद कांग्रेस सहित अन्य विपक्षी दल केन्द्रीय चुनाव आयोग व भाजपा के खिलाफ़ सड़कों पर उतरकर आन्दोलन खड़ा करने के बजाय केवल बयानबाज़ी तक ही सीमित रहे। बिहार विधानसभा चुनाव में एसआईआर के ज़रिये हुई वोटचोरी के असर को साफ देखा जा सकता है। बावजूद इसके विपक्षी दल कोई जुझारू क़दम उठाने से बच रहे हैं।

बहुत मुमकिन है कि आने वाले कुछ माह में राहुल गांधी एक और प्रेस कॉन्फ्रेंस कर बिहार विधानसभा चुनाव में हुई धाँधली के नये साक्ष्य सार्वजनिक करें। लेकिन ऐसा करने पर भी शायद वही स्थिति दोहरायी जायेगी। देश की जनता का एक हिसा विशेषकर युवाओं की एक बड़ी आबादी इस तथ्य को भली-भाँति समझ रही है कि भाजपा चुनावों में धाँधली कर सत्ता हथिया रही है और इस काम में देश का चुनाव आयोग उसकी मदद कर रहा है। इसलिए अब सिर्फ़ धाँधली के साक्ष्य जनता के सामने रखने से परिस्थियाँ नहीं बदलेगी। विपक्षी दलों को चाहिए कि बिहार विधानसभा चुनाव के नतीजों को जनादेश मानने से इनकार करें और अपनी जीती हुई सीटों से इस्तीफ़ा दें। केन्द्रीय चुनाव आयोग व भाजपा के इस नापाक गठजोड़ के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरकर आन्दोलन करें। हालाँकि उनकी चुनावी राजनीति की सीमाएँ देखते हुए इसकी सम्भावना कम ही है कि वे ऐसा कर पायेंगी।

आज की तारीख़ में जनता को उनके वास्तविक मुद्दों पर संगठित कर सड़कों पर उतरने का माद्दा किसी भी चुनावबाज़ पार्टी में नहीं है। ये तमाम पार्टियाँ असल में पूँजीपति वर्ग के ही विभिन्न धड़ों की नुमाइन्दगी करती हैं। इसलिए इनसे ज़्यादा उम्मीद करना ही बेमानी है। आज मतदान के राजनीतिक जनवादी अधिकार पर हो रहे फ़ासीवादी हमले के विरुद्ध भी क्रान्तिकारी शक्तियों को आम जनता को गोलबन्द और संगठित करना होगा, राजनीतिक जनवाद के अधिकार की हिफ़ाज़त के इस मुद्दे को भी अपने हाथों में लेना होगा और इसके लिए एक जनान्दोलन खड़ा करना होगा। जनता के मताधिकार की रक्षा के लिए खड़ा हुआ आन्दोलन देश में फ़ासीवाद-विरोधी संघर्ष की अहम कड़ी होगी।

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(पेज 14 से आगे)

प्रभावी माँग के संकट से मुक्त हो जायेगा!'

कुछ क्रान्तिकारी अल्पउपभोगवादी भी पैदा हुए मसलन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग जिन्होंने कहा कि इस माँग-अन्तर को ग़ैर-पूँजीवादी ख़रीदार यानी देश के भीतर के ग़ैर-पूँजीवादी उत्पादक और उनके कम पड़ने व समाप्त होने पर दूसरे प्राक्-पूँजीवादी देशों के ग़ैर-पूँजीवादी उत्पादक अस्थायी तौर पर भरते हैं; इस प्रकार, रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की बुनियाद में भी एक प्रमुख स्तम्भ पूँजीवाद के दायरे के भीतर न भरा जा सकने वाला 'माँग-अन्तर' का यह अल्पउपभोगवादी सिद्धान्त है। लेकिन रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग मानती हैं कि पूँजी के प्रवेश के साथ यह ग़ैर-पूँजीवादी ख़रीदार समाप्त होता जायेग, प्राक्-पूँजीवादी उपनिवेश व अर्द्धउपनिवेशों में भी पूँजीवाद का विकास हो जायेगा और कालान्तर में पूँजीवाद स्वयं अपने इस 'तृतीय क्रेता', 'बाहरी' या ग़ैर-पूँजीवादी ख़रीदार को समाप्त कर देगा और उसके साथ पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के ढह जाने की स्थितियाँ भी तैयार हो जायेंगी, क्योंकि साम्राज्यवादियों के लिए प्राक्-पूँजीवादी परिधि जैसे-जैसे सँकरी होती जायेगी, वैसे-वैसे उनकी तीखी होती प्रतिस्पर्द्धा साम्राज्यवादी युद्धों को जन्म देंगे और ये साम्राज्यवादी युद्ध सर्वहारा क्रान्तियों को जन्म देंगे। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग एक क्रान्तिकारी के तौर पर अल्पउपभोगवाद के सिद्धान्त से क्रान्तिकारी नतीजे निकालने का प्रयास करती हैं, लेकिन चूँकि यह सिद्धान्त ही ग़लत है, इसलिए नतीजे भी सटीक नहीं हो सकते।

पूँजी के दूसरे खण्ड के अपने जारी अध्ययन में हम देखेंगे कि अल्पउपभोगवाद की ये सारी क़िस्में एक बुनियादी तत्व को नहीं समझ पायीं: *समय का तत्व।* यही वजह है कि वे पूँजी और पूँजीवादी उत्पादन को गति में देखने के बजाय स्थैतिकता में देखती हैं और यह मानती हैं कि यह 'माँग-अन्तर' भरा ही नहीं जा सकता है। मार्क्स दिखलाते हैं कि ऐसा नहीं है। यह 'माँग-अन्तर' भरा जा सकता है। यदि पूँजी संचय जारी रहता है, यदि लाभप्रदता बनी रहती है, पूँजीवादी व्यवस्था ही उतार-चढ़ाव और विक्षोभों से गुज़रते हुए वह अतिरिक्त प्रभावी माँग पैदा कर सकती है जो इस 'माँग-अन्तर' को भर सकती है। मार्क्स बेशक़ यह नहीं कह रहे कि यह 'माँग-अन्तर' पूँजीवादी व्यवस्था अवश्यम्भावी रूप से भरती ही है। वह यह कह रहे हैं कि यदि मुनाफ़े की औसत दर स्वस्थ रही तो पूँजीवाद उसे भर सकता है और उतार-चढ़ाव भरी प्रक्रिया से ही सही, अपना पुनरुत्पादन जारी रख सकता है। अल्पउपभोगवादियों के लिए यह 'माँग-अन्तर' एक तीसरे ख़रीदार, एक बाहरी ख़रीदार (पूँजीवादी सम्बन्धों से बाहर) या राज्यसत्ता द्वारा सामाजिक ख़र्च के बिना भरा ही नहीं जा सकता। मार्क्स दिखलाते हैं कि पहली बात यह है कि उपरोक्त समाधान ही भ्रामक हैं और इसलिए समाधान हैं ही नहीं और दूसरी बात यह कि पूँजीवाद बिना किसी 'बाहरी' या 'तीसरे' ख़रीदार को कुछ निश्चित पूर्वशर्तों के पूरा होने पर स्वयं भर सकता है और ठीक इन्हीं पूर्वशर्तों के पूरा न होने पर वह अपने पुनरुत्पादन में असफल भी हो सकता है। लेकिन ये पूर्वशर्तें कब पूरी होंगी और कब नहीं, इसे महज़ माँग और आपूर्ति के विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता क्योंकि माँग और आपूर्ति अपने आपमें किसी बात की व्याख्या नहीं करतीं, उल्टे माँग और आपूर्ति का परिमाण जितना है उतना क्यों है और उसकी प्रकृति जैसी है वैसी क्यों है, स्वयं यह बात पूर्वप्रदत्त नहीं होती है और इस बात की व्याख्या की जानी होती है। इसका जवाब हमें लाभप्रदता की स्थितियों में मिलता है, जिसे सम्पूर्ण तौर पर हम इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में ही समझेंगे।

बहरहाल, *पूँजी* के दूसरे खण्ड में मार्क्स पूँजीवादी पुनरुत्पादन की स्थितियों की अपनी जाँच को आगे बढ़ाते हैं और पूँजी के परिपथ के तीनों रूपों पर विस्तार से चर्चा के बाद संचरण की समय और संचरण की लागतों के प्रश्न पर आते हैं। अगले अध्याय में हम इसी विषय पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

(अगले अंक में जारी)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

दिल्ली में हर साल प्रदूषण से हो रही हैं 17 हज़ार मौतें!!

प्रदूषण प्राकृतिक आपदा नहीं बल्कि मुनाफ़े की व्यवस्था से पैदा हुआ संकट है!

प्रदूषण पर कार्रवाई करने के बजाय सरकार साफ़ हवा माँग रहे नागरिकों-छात्रों का दमन कर रही है

● योगेश

देश की राजधानी दिल्ली में होने वाली मौतों का सबसे बड़ा कारण अब प्रदूषण बन गया है। एक रिपोर्ट के मुताबिक़ दिल्ली में पिछले कुछ सालों में किसी भी अन्य बीमारी से उतनी मौतें नहीं हुई जितनी प्रदूषण से जुड़ी बीमारियों के कारण हो रही हैं। दिल्ली एनसीआर की हवा की गुणवत्ता बेहद चिन्ताजनक स्थिति में पहुँच गयी है। यहाँ की हवा में साँस लेने का मतलब ज़हर पीना हो गया है। दिल्ली एनसीआर में प्रदूषण इतना बढ़ जाने का कारण कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है बल्कि इस मौजूदा मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था है जिसके चलते दिल्ली और आस-पास रहने वाले लोगों का स्वास्थ्य संकट की स्थिति में आ चुका है। दिल्ली में प्रदूषण बढ़ने के क्या क्या कारण है इस पर हम आगे आयेंगे अभी कुछ आँकड़ों के ज़रिये समझने की कोशिश करते हैं कि प्रदूषण के चलते दिल्ली के लोग कैसे धीमी मौत मरने को मजबूर हैं।

इंस्टीट्यूट ऑफ़ हेल्थ मीट्रिक्स ऐंड इवैल्यूशन (IHME) की रिपोर्ट के अनुसार दिल्ली में साल 2023 में 17,188 लोगों की मौत वायु प्रदूषण के कारण हुई। यानी मरने वाले हर सात में एक व्यक्ति की मौत दिल्ली की ज़हरीली हवा के कारण हुई है। प्रदूषण के चलते दिल्लीवासियों की ज़िन्दगी के 10-12 साल कम हो जाते हैं।

इस साल दिवाली बीतते ही दिल्ली के प्रदूषण ने पुराने सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये! AQI 500 पार पहुँच गया, जो विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा स्वस्थ माने जाने वाले स्तर से 10 गुना ज़्यादा है। कुछ इलाक़ों में, प्रदूषण फैलाने वाले ज़हरीले कणों – PM2.5 और PM10 – का स्तर 1,800 के उच्चतम स्तर पर पहुँच गया, जो स्वस्थ माने जाने वाले स्तर से 15 से 20 गुना ज़्यादा है। पराली जलाने में 77.5 प्रतिशत की गिरावट के बावजूद राष्ट्रीय राजधानी में वायु की गुणवत्ता बेहद ख़तरनाक स्तर पर पहुँच गयी है। दिल्ली में एम्स के पूर्व निदेशक **डॉ रणदीप गुलेरिया** के मुताबिक़ **"दिल्ली की ज़हरीली हवा कोरोना से भी ख़तरनाक"** है। उन्होंने बताया कि हानिकारक कण (PM2.5) असल में पूरे शरीर में सूजन पैदा करते हैं – न सिर्फ़ फेफड़ों में, बल्कि दिल, रक्त वाहिकाओं, और दिमाग़ तक में। एक रिपोर्ट बताती है कि वायु प्रदूषण भारत में एक बहुत बड़ा स्वास्थ्य ख़तरा है। कई विशेषज्ञों का कहना है कि प्रदूषण से सिर्फ़ श्वास-सम्बन्धी बीमारियाँ नहीं होतीं। बढ़े हुए प्रदूषण का सम्बन्ध हृदयाघात, स्ट्रोक, कैंसर और न्यूरोलॉजिकल डिज़ीज़ जैसे रोगों से है। एक रिपोर्ट में बताया गया है कि दिल्ली में लगातार बहुत ख़राब हवा की वजह से कैंसर का जोखिम भी बढ़ रहा है, और यह सिर्फ़ अस्थायी नहीं बल्कि दीर्घकालीन स्वास्थ्य समस्या है। प्रमुख वैज्ञानिक और मेडिकल एक्सपर्ट यह कह रहे हैं कि दिल्ली का वायु प्रदूषण चाहे कोविड-19 जैसे संक्रमण की तरह नज़र न आये, लेकिन स्वास्थ्य के लिए बहुत ख़तरनाक "साइलेण्ट पैण्डेमिक" की तरह है। प्रदूषण लम्बी अवधि में जीवन की औसत आयु को बहुत प्रभावित करता है, और यह सिर्फ़ साँस की बीमारी नहीं, बल्कि हृदय, दिमाग़, कैंसर और अन्य गम्भीर स्वास्थ्य समस्याओं का कारण बन सकता है। यह सिर्फ़ एक "मौसमी असुविधा" या "ठण्ड के वक्त का अस्थायी मसला" नहीं माना जाना चाहिए – यह एक गम्भीर पब्लिक हेल्थ इमरजेंसी मानी जा रही है।

आइए अब जानते हैं दिल्ली एनसीआर में प्रदूषण के स्तर के गिरने के मुख्य कारण क्या हैं।

दिल्ली में प्रदूषण के मुख्य कारण

दिल्ली में वायु प्रदूषण एक जटिल और बहुआयामी समस्या बन चुकी है, जिसके पीछे कई प्रमुख कारक हैं।

1. वाहनों से होने वाला प्रदूषण : शहर में वाहनों की संख्या में लगातार वृद्धि, पुराने इंजन वाले वाहन और ख़राब गुणवत्ता वाला ईंधन वायु गुणवत्ता को गम्भीर रूप से प्रभावित कर रहे हैं। विशेष रूप से डीज़ल चालित वाहन, PM2.5 और PM10 जैसे हानिकारक सूक्ष्म कणों का उत्सर्जन करते हैं, जो श्वसन सम्बन्धी बीमारियों का कारण बन सकते हैं।

2. औद्योगिक प्रदूषण : दिल्ली और आसपास के औद्योगिक क्षेत्रों से सल्फ़र डाइऑक्साइड (SO_2), नाइट्रोजन ऑक्साइड्स (NOx) और वाष्पशील कार्बनिक यौगिक (VOCs) जैसी हानिकारक गैस उत्सर्जित होती हैं। ये प्रदूषक वायु की गुणवत्ता को बिगाड़ते हुए स्वास्थ्य पर गम्भीर प्रभाव डालते हैं। इस प्रदूषण को रोकने के लिए जिस प्रकार के तकनीकी इन्तज़ाम किये जाने चाहिए, उनसे पूँजीपतियों को सरकार ने पूरी छूट दे रखी है। नतीजा सामने है।

3. निर्माण कार्यों से उत्पन्न धूल : शहर में चल रहे निर्माण कार्य बड़ी मात्रा में धूल फैलाते हैं। नियमों के अनुपालन की कमी और निर्माण सामग्री के खुला रहने से यह धूल वायु में मिश्रित होकर प्रदूषण बढ़ाती है।

4. पराली का जलाना : सर्दियों में पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के धनी पूँजीवादी किसान खेतों की सफाई के लिए सही वैज्ञानिक प्रणाली अपनाने के बजाय पराली जलाते हैं, क्योंकि इससे ख़र्च कम होता है। इसका धुआँ हवा के साथ दिल्ली तक भी पहुँचता है और शहर में वायु प्रदूषण बढ़ा देता है। लेकिन पराली जलाने की दर में पिछले वर्ष के मुक़ाबले 50 से 70 प्रतिशत तक की कमी आयी है।

कुछ अन्य कारण भी हैं जैसे कचरा जलाना। घरेलू और औद्योगिक कचरे को खुले में जलाना भी हानिकारक धुएँ और रसायनों का स्रोत है और नये मकान, सड़क और मेट्रो निर्माण के काम से बहुत अधिक धूल उड़ती है, जिसे रोकने के पर्याप्त उपाय नहीं किये जाते।

लेकिन दिल्ली में प्रदूषण का मुख्य कारण निजी वाहन हैं। दिल्ली एनसीआर में इसका मुख्य कारण फैक्ट्री-कारख़ानों से होने वाला प्रदूषण है। पिछले साल तक सरकार और गोदी मीडिया द्वारा सारे प्रदूषण का कारण सिर्फ़ पराली जलाने को बताया जाता था। यह सच है कि पराली जलाना तात्कालिक तौर पर प्रदूषण को बढ़ाने का काम तो करता ही है। लेकिन इस साल पराली जलाने में 77.5 प्रतिशत की कमी के बावजूद प्रदूषण अब तक के सबसे ख़राब स्तर तक पहुँच गया। इस बार प्रदूषण बढ़ने का एक कारण दिवाली में बेरोकटोक पटाखे जलाना भी रहा। बड़े स्तर पर पटाखे जलाने के कारण यह अचानक से बढ़ गया। सरकार को यहाँ के प्रदूषण की हालत को देखते हुए पटाखों को पूरी तरह से प्रतिबन्धित करना चाहिए था, लेकिन कहने को कोर्ट ने बस "ग्रीन पटाखे" जलाने के आदेश दिये, वैसे तो ये भी पूरी तरह प्रदूषण-मुक्त नहीं हैं, बस "कम प्रदूषण" करते हैं, पर बाज़ार में नक़ली ग्रीन पटाखे और आम पटाखे बहुत आसानी से मिल रहे थे और सरकार द्वारा इस पर कोई ख़ास रोकटोक भी नहीं की गयी। ऊपर से संघ-भाजपा के लोग और भी ज़्यादा पटाखे जलाने के लिए लोगों को उकसा रहे थे। नतीजतन, दिवाली बीतते ही पूरी दिल्ली सफ़ेद धुन्ध की चादर से ढँक गयी और साँस लेना भी दूभर हो गया।

इस सबके बावजूद दिल्ली की मुख्यमंत्री बेशर्मी से यह कहती हैं कि इस बार दिवाली के बाद प्रदूषण में कमी आयी है। जब दिल्ली की आम जनता ज़हरीली हवा में साँस लेने को अभिशप्त है, तो मुख्यमंत्री वातानुकूलित कमरों के भीतर एयर प्यूरिफ़ायर के बीच रहकर इस तरह की बयानबाज़ियाँ कर रही हैं।

दिल्ली एनसीआर में प्रदूषण का सबसे बड़ा हिस्सा कारख़ानों से आता है, जिसपर कोई भी रोक-टोक नहीं है। ऊर्जा एवं संसाधन संस्थान (टेरी) की 2024 की एक रिपोर्ट के अनुसार एनसीआर में उद्योगों का कुल प्रदूषण में 40% से ज़्यादा योगदान है। रिपोर्ट में पार्टिकुलेट मैटर में योगदान (PM10 में 41% PM2.5 में 44%) का सबसे बड़ा स्रोत कारख़ानों को बताया गया है। इसके बाद स्टोन क्रशर (PM10 में 22%, PM2.5 में 19%) का स्थान है। PM10 और PM2.5 बेहद छोटे व ज़हरीले गैस के कण होते हैं जो आसानी से हमारी साँस के माध्यम से फ़ेफड़ों में चले जाते हैं। अन्य ज़हरीली गैसों में एनसीआर में पावर-प्लाण्ट सल्फ़र डाइऑक्साइड (46%) के सबसे बड़ा उत्सर्जक हैं, जबकि परिवहन कार्बन मोनोऑक्साइड (97%), वाष्पशील कार्बनिक यौगिक (58%) और नाइट्रोजन ऑक्साइड्स (66%) का सबसे बड़ा उत्सर्जक है। यही नहीं, दिल्ली जैसे शहर में प्रदूषण के बेहिसाब बढ़ने का एक और कारण यह है कि दिल्ली में इस शहर की क्षमता से काफ़ी ज़्यादा आबादी रहती है। इसका कारण यह है कि आज पूरे देश में कारख़ानों और नौकरियों का असमान बँटवारा होने के कारण बड़ी आबादी दिल्ली जैसे शहर में पलायन करती है और यहाँ हर तरह से दबाव बढ़ जाता है। इतनी बड़ी आबादी के साथ ही निजी वाहनों की संख्या भी यहाँ अत्यधिक है, जोकि अच्छे और सस्ते सार्वजानिक परिवहन के न होने के कारण है।

दिल्ली में जानलेवा हो चुके प्रदूषण को लेकर सरकार ने क्या क़दम उठाये है इसपर एक नज़र डाल लेते हैं। सच्चाई यह है कि अभी तक केन्द्र और दिल्ली में सत्ता में बैठी भाजपा सरकार प्रदूषण की समस्या को लेकर गम्भीर नहीं दिख रही है। यह इससे भी पता चलता है कि दिल्ली में प्रदूषण विनाशकारी स्थिति में है लेकिन दिल्ली सरकार की ओर से अब तक कोई जन स्वास्थ्य सलाह जारी नहीं की गयी। साफ़ दिख रहा है कि दिल्ली की जनता को इस स्वास्थ्य संकट से बचाने के लिए दिल्ली सरकार के पास कोई ठोस योजना नहीं है। इसलिए दिवाली से पहले किसी भी तरह का कोई परहेज़ नही किया गया और न ही कोई बड़ी पाबन्दी लगायी गयी। मुख्यमंत्री रेखा गुप्ता ने बेशर्मी से कहा कि दिल्ली में पटाखे जलाने से कोई प्रदूषण नहीं हुआ, पर तत्काल ही सीएम ऑफ़िस में कुल 5.5 लाख के 15 एयर प्यूरिफ़ायर लगवा दिये गये।

मगर जब दिल्ली के नागरिक प्रदूषण के मुद्दे पर प्रदर्शन कर रहे हैं तो मुख्यमंत्री और अन्य नेता चुप्पी साधे बैठे हैं। उल्टा, शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे छात्रों और नागरिकों को दिल्ली पुलिस हिरासत में ले लेती है और सड़कों पर घसीटती है। पुलिस का कहना है कि दिल्ली में किसी भी तरह का प्रदर्शन या जुटान सिर्फ़ जन्तर-मन्तर पर ही किया जा सकता है, वह भी 10 दिन पहले अनुमति लेकर – जिसे प्रदर्शन से एक दिन पहले ही बिना किसी वाजिब कारण के ख़ारिज भी किया जा सकता है। बस धीरेन्द्र शास्त्री जैसे भाजपा समर्थक दंगाई साम्प्रदायिक बाबा को लोगों की भीड़ के साथ सड़कों पर यात्रा निकालने की छूट है।

"क्लाउड सीडिंग" की नौटंकी

बता दें कि केवल 2 बार की क्लाउड सीडिंग में अब तक दिल्ली सरकार 1.28 करोड़ रुपये स्वाहा कर चुकी है। यह बिल्कुल वैसा ही है, जैसे सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली!

अब समझते हैं कि "क्लाउड सीडिंग" क्या है और दिल्ली में क्यों यह प्रभावी नहीं हो सकता?

सबसे पहले मुख्यमंत्री रेखा गुप्ता और पर्यावरण मंत्री मनजिन्दर सिंह सिरसा के क्लाउड सीडिंग के दावों की सच्चाई जानते हैं! क्लाउड सीडिंग में विमान या ड्रोन का इस्तेमाल करके बादलों में सिल्वर आयोडाइड के कण डाले जाते हैं, जिनकी संरचना बर्फ़ जैसी होती है। पानी की बूँदें इन कणों के चारों ओर इकट्ठा हो जाती हैं, जिससे बादलों की संरचना बदल जाती है और वर्षा की सम्भावना बढ़ जाती है। क्लाउड सीडिंग का अध्ययन करने वाले विशेषज्ञों ने साफ़ कहा है कि यह कोई रामबाण उपाय नहीं है। इससे बादलों की तुलना में ज़्यादा बार और ज़्यादा भारी बारिश होती है, लेकिन इसका असर अक्सर कम होता है। इस प्रक्रिया के लिए बादलों की भी ज़रूरत होती है और सर्दियों में जब प्रदूषण चरम पर होता है, तब अक्सर बादल दिल्ली में मौजूद नहीं होते। यह प्रदूषण के मूल कारणों का भी समाधान नहीं करता। दिल्ली स्थित सेण्टर फॉर एटमॉस्फेरिक साइंसेज के दो प्रोफ़ेसरों ने इस योजना की निन्दा करते हुए इसे एक "नौटंकी" बताया। शहजाद गनी और कृष्ण अच्युत राव ने 'द हिन्दू' अख़बार में लिखा कि *"यह विज्ञान के ग़लत इस्तेमाल और नैतिकता की अनदेखी का एक सटीक उदाहरण है।"* उन्होंने इन योजनाओं की तुलना उन "स्मॉग टावरों" से की, जिन्हें पिछली सरकार ने अरबों रुपये की लागत से दिल्ली में बनवाया था, लेकिन वायु गुणवत्ता में सुधार लाने में ये टावर काफ़ी हद तक निष्प्रभावी पाये गये।

आपको बता दें कि क्लाउड सीडिंग में प्रयुक्त रसायनों, जैसे सिल्वर आयोडाइड या सोडियम क्लोराइड, के बार-बार उपयोग से कृषि और मानव स्वास्थ्य पर भी गहरा असर पड़ता है। आईआईटी दिल्ली में किये गये एक अध्ययन में बताया गया है कि क्लाउड सीडिंग दिल्ली की सर्दियों में होने वाले वायु प्रदूषण को नियंत्रित करने का न तो मुख्य और न ही भरोसेमन्द तरीक़ा हो सकता है, क्योंकि दिल्ली का मौसम इसके लिए उपयुक्त नहीं है। उनके अनुसार *"क्लाउड सीडिंग और स्मॉग टावर जैसे समाधान ध्यान भटकाने वाले और संसाधनों की बर्बादी हैं।"*

(पेज 9 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016